The Ludwig Wittgenstein Project

Wittgenstein — ऑन सर्टेन्टि

ऑन सर्टेन्टि

Ludwig Wittgenstein

Editor’s Note

Published by the Ludwig Wittgenstein Project.

Tranlsated by Ashok Vohra

This digital edition is based on Ludwig Wittgenstein. On Certainty — ऑन सर्टेन्टि. Translated by Ashok Vohra, Indian Council of Philosophical Research, 1998. The original-language text is in the public domain in its country of origin and other countries and areas where the copyright term is the author’s life plus 70 years or fewer. The translation was kindly released by Prof. Ashok Vohra under the Creative Commons Attribution-ShareAlike licence. The web edition was created by Michele Lavazza and proofread by Abhishek Manhas under the supervision of Désirée Weber from the College of Wooster.

ऑन सर्टेन्टि

1. यदि आप निश्चित रूप से यह जानते हैं कि यह एक हाथ है[1] तो हम आपके बाकी सारे ज्ञान को स्वीकार कर लेते हैं।

जब हम यह कहते हैं कि अमुक प्रतिज्ञप्ति को सिद्ध नहीं किया जा सकता तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि उसकी अन्य प्रतिज्ञप्तियों से निष्पत्ति नहीं की जा सकती; किसी प्रतिज्ञप्ति की अन्य प्रतिज्ञप्तियों से निष्पत्ति की जा सकती है, किन्तु यह जरूरी नहीं कि वे उस प्रतिज्ञप्ति से अधिक विश्वसनीय हों। (इस पर एच. न्यूमैन की अटपटी टिप्पणी)

2. मुझे या किसी को कोई विषय कैसा दीखता है उस से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वह वैसा ही है।

हम तो यही पूछ सकते हैं कि क्या उस पर शंका करना सार्थक हो सकता है।

3. उदाहरणार्थ, जब कोई कहता है कि “मैं नहीं जानता कि क्या यह हाथ है या “नहीं” तो उसे बतलाया जा सकता है, “जरा ध्यान से देखो”। — इस प्रकार की आत्मसन्तुष्टि की संभावना भाषा-खेल का एक भाग है, उसका एक विशिष्ट गुण है।

4. “मैं जानता हूँ कि मैं मानव हूँ”। इस प्रतिज्ञप्ति के अर्थ की अस्पष्टता को जानने के लिए इसके निषेध पर विचार करें। अधिकाधिक इसका अर्थ यही हो सकता है “मैं जानता हूँ कि मैं मानव अंगों से रचा गया हूँ।” (“उदाहरणार्थ, मेरे शरीर में मस्तिष्क है, जिसे अब तक किसी ने नहीं देखा।”) किन्तु ऐसी प्रतिज्ञप्ति का क्या होगा : “मैं जानता हूँ कि मेरे शरीर में एक मस्तिष्क है”?

क्या इस पर संशय किया जा सकता है? संशय का आधार तो कोई है नहीं! इसके पक्ष में सभी कुछ है पर विपक्ष में कुछ भी नहीं। फिर भी यह कल्पना की जा सकती है कि मेरी खोपड़ी को खोलने पर उसमें से कुछ भी न निकले।

5. किसी प्रतिज्ञप्ति के सत्यासत्य का निर्धारण मेरे द्वारा स्वीकृत मानदण्ड के आधार पर ही सम्भव है।

6. तो, क्या (मूअर के समान) हम समस्त ज्ञात-विषयों की सूची बना सकते हैं? मेरी राय में यह सम्भव नहीं — ऐसी स्थिति में "मैं जानता हूँ" इस अभिव्यक्ति का दुरुपयोग होता है। और ऐसे दुरुपयोग से एक विचित्र पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानसिक अवस्था का पता चलता है।

7. मेरे व्यवहार से यह पता चलता है कि मैं जानता हूँ या आश्वस्त हूँ कि वहाँ एक कुर्सी पड़ी है, या वहाँ दरवाजा इत्यादि है। उदाहरणार्थ मैं किसी मित्र से कहता हूँ "उस कुर्सी को वहाँ ले जाओ", "दरवाज़े को बंद कर दो", इत्यादि, इत्यादि।

8. "जानने" और" आश्वस्त होने" के प्रत्ययों में भेद केवल वहीं महत्त्वपूर्ण होता है जहाँ "मैं जानता हूँ" कहने का अर्थ होता है : मैं गलत नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, किसी अदालत में दी जा रही किसी गवाही में "मैं जानता हूँ" को "मैं आश्वस्त हूँ" से प्रतिस्थापित किया जा सकता है। "मैं जानता हूँ" के प्रयोग पर अदालत में पाबंदी की कल्पना भी की जा सकती है। (विल्हेल्म माइस्टर के एक अनुच्छेद में तथ्यों की गलत जानकारी के बावजूद "आप जानते हैं" अथवा "आप जानते थे" का प्रयोग "आप आश्वस्त थे" के अर्थ में किया जाता है।)

9. तो क्या मैं अपने व्यवहार में यह सुनिश्चित करता हूँ कि मैं जानता हूँ कि यह एक हाथ — यानी, मेरा हाथ है?

10. मैं जानता हूँ कि एक बीमार व्यक्ति यहाँ लेटा हुआ है? बकवास! मैं उसके सिरहाने बैठा हूँ, मैं उसके चेहरे को गौर से देख रहा हूँ। — क्या फिर भी मैं यह नहीं जानता कि यहाँ एक बीमार व्यक्ति लेटा है? यह प्रश्न और यह कथन दोनों उसी तरह निरर्थक हैं जैसे मेरा किसी से यह कहना कि 'मैं यहाँ हूँ।' तो

क्या “2 × 2 = 4” कोई गणितीय प्रतिज्ञप्ति न होकर कभी भी उसी तरह निरर्थक है? “2 × 2 = 4” तो गणित में न तो “कभी” और न ही ‘सदा’ — सत्य प्रतिज्ञप्ति है, किन्तु चीनी भाषा में लिखित अथवा उच्चारित “2 × 2 = 4” वाक्य का भिन्न अर्थ हो सकता है या फिर उस भाषा में यह वाक्य निरर्थक भी हो सकता है, और इससे यह पता चलता है कि प्रयोग में ही इस प्रतिज्ञप्ति का अर्थ होता है। और “मैं जानता हूँ कि यहाँ पर एक बीमार व्यक्ति लेटा हुआ है” यह प्रतिज्ञप्ति किसी अनुपयुक्त स्थिति में प्रयुक्त होने पर भी निरर्थक न लगकर, सामान्य लगती है क्योंकि इसके अनुरूप किसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है और हम सोचते हैं कि “मैं जानता हूँ कि....” शब्द संशय-रहित सभी स्थितियों में प्रयुक्त किये जा सकते हैं, और इसीलिए उनमें सन्देह की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

11. “मैं जानता हूँ” अभिव्यक्ति के प्रयोग का वैशिष्ट्य हम समझ ही नहीं पाते।

12. — क्योंकि “मैं जानता हूँ” अभिव्यक्ति किसी ऐसी परिस्थिति का विवरण देती प्रतीत होती है जिसमें ज्ञात विषय की किसी तथ्य के समान गारण्टी दी गई हो। “मैं सोचता था कि मैं जानता हूँ” इस अभिव्यक्ति को हम सर्वदा भूल जाते हैं।

13. क्योंकि “ऐसा है” प्रतिज्ञप्ति का अनुमान किसी अन्य व्यक्ति के “मैं जानता हूँ कि ऐसा है” कहने से नहीं किया जा सकता न ही इसका अनुमान इसे इस कथन से जोड़कर किया जा सकता है कि यह झूठ नहीं है। — किन्तु “ऐसा है” का अनुमान क्या मैं अपने ही कथन “मैं जानता हूँ” से नहीं कर सकता? अवश्य; और “वहाँ एक हाथ है” इस प्रतिज्ञप्ति की निष्पत्ति “वह जानता है कि वहाँ एक हाथ है” इस प्रतिज्ञप्ति से की जा सकती है। किन्तु उसके “मैं जानता हूँ कि....” कहने से यह निष्पन्न नहीं होता कि वह वास्तव में इसको जानता है।

14. वह वस्तुतः जानता है इस बात को तो सिद्ध करना होगा।

15. यह सिद्ध करना होगा कि कोई भी भूल असंभव है। “मैं जानता हूँ” यह आश्वासन काफी नहीं है। इस आश्वासन से तो इतना ही पता चलता है कि मैं त्रुटि कर ही नहीं सकता, पर यह तो वस्तुनिष्ठापूर्वक सिद्ध करना होगा कि मैं इस बारे में त्रुटि नहीं कर रहा।

16. “यदि मैं किसी विषय को जानता हूँ तो मुझे यह भी पता होता है कि मैं उसे जानता हूँ, इत्यादि” ऐसा कहने का अर्थ है : “मैं उसे जानता हूँ” का अर्थ है “मैं उसके बारे में त्रुटि नहीं कर सकता”। परन्तु मेरे त्रुटि न करने की क्षमता को वस्तुनिष्ठापूर्वक सिद्ध करना होगा।

17. मान लीजिए कि किसी वस्तु को इंगित करते हुए मैं कहता हूँ “मैं इस बारे में त्रुटि कर ही नहीं सकता (कि) : वह एक किताब है “। यहाँ पर त्रुटि किस प्रकार की होगी? क्या इसके बारे में मेरी कोई स्पष्ट धारणा है?

18. प्राय : “मैं जानता हूँ” का यह अर्थ होता है : मेरे पास अपने कथन के लिए उचित आधार हैं। भाषा-खेल से परिचित कोई भी व्यक्ति यह मानेगा कि मैं जानता। भाषा-खेल से परिचित कोई भी व्यक्ति यह कल्पना कर सकता है कि उस प्रकार के विषय को कैसे जाना जाता है।

19. “मैं जानता हूँ कि यह एक हाथ है” इस कथन के आगे तो यह कहा जा सकता है : “क्योंकि मैं अपने हाथ को ही देख रहा हूँ”। फिर कोई भी समझदार व्यक्ति इस पर संशय नहीं करेगा कि मैं जानता हूँ। — न ही कोई प्रत्ययवादी इस पर संशय करेगा; अपितु वह तो यही कहेगा कि यहाँ पर वह उस व्यावहारिक संशय की बात नहीं कर रहा है जिसे निरस्त किया जा रहा है, परन्तु वह उससे भी आगे के संशय की बात कर रहा है। — इस मरीचिका को तो किसी अन्य ढंग से सिद्ध करना होगा।

20. उदाहरणार्थ, “बाह्य जगत् की सत्ता पर संशय करने” का अर्थ किसी ऐसे ग्रह की सत्ता पर संशय करना नहीं होता जिसकी सत्ता को बाद के प्रेक्षणों ने सिद्ध किया हो। — या फिर, क्या मूअर यह कहना चाहते हैं कि यह उनका हाथ है इस के बारे में जानने और शनि ग्रह की सत्ता के बारे में जानने में

गुणात्मक भेद होता है? अन्यथा शनि ग्रह की खोज के बारे में, और उसकी सत्ता के बारे में शंकालुओं को बतलाना और यह कहना संभव होना चाहिए कि उसकी सत्ता बाह्य जगत् की सत्ता-सिद्धि से भी सिद्ध हो जाती है।

21. वास्तव में मूअर के दृष्टिकोण का अर्थ यह है : 'जानने' के प्रत्यय में और 'विश्वास होने', 'अनुमान करने', 'संशय करने', 'कायल होने' जैसे प्रत्ययों में उतनी ही समानता है जितना कि "मैं जानता हूँ कि...." कथन गलत नहीं हो सकता। और यदि ऐसा है तो ऐसे वचन से कथन की सत्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। पर यहाँ "मैं समझता था कि मैं जानता हूँ" इस अभिव्यक्ति को अनदेखा किया जा रहा है। — किन्तु यदि उपर्युक्त बात अग्राह्य है तो कथन में त्रुटि भी तार्किक रूप से असंभव होनी चाहिए। और भाषा-खेल से परिचित किसी भी व्यक्ति को यह समझना ही चाहिए — किसी भी विश्वस्त व्यक्ति के इस आश्वासन से कि वह जानता है, कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

22. यदि हमें किसी ऐसे विश्वस्त व्यक्ति पर विश्वास करना पड़े जो कहता है "मैं भूल नहीं कर सकता"; या फिर जो कहता है "मैं गलत नहीं हूँ", तो यह बात विचित्र ही होगी।

23. यदि मैं यह नहीं जानता कि किसी के दो हाथ हैं (उदाहरण के रूप में, कहीं ऐसा तो नहीं कि उसके हाथ काट दिए गए हों); तो किसी विश्वस्त व्यक्ति के इस आश्वासन पर कि उसके दो हाथ हैं, मैं विश्वास कर लूँगा। और यदि वह यह कहे कि वह इस बारे में जानता है तो इससे मुझे यही पता चलता है कि वह इसको सुनिश्चित कर रहा है और इसीलिए उसकी बाँहे अब पट्टियों, या किन्हीं अन्य आवरणों से ढंकी नहीं हैं। विश्वस्त व्यक्ति पर विश्वास करने का आधार मेरी इस मान्यता में है कि वह इस बात का निश्चय कर सकता है। किन्तु, संभवतः कोई भौतिक वस्तु है ही नहीं, ऐसा कहने वाला व्यक्ति यह नहीं मानता।

24. प्रत्ययवादी कुछ इस प्रकार का प्रश्न करेगा : "मुझे अपने हाथों के अस्तित्व पर संशय न करने का क्या अधिकार है?" (और उस पर यह उत्तर तो नहीं हो सकता : मैं जानता हूँ कि उनका अस्तित्व है) किन्तु ऐसा प्रश्नकर्ता इस

तथ्य को भूल जाता है कि सत्ता विषयक संशय किसी भाषा-खेल में ही कारगर होता है। यानी हमें पहले यह पूछना पड़ेगा : इस प्रकार का संशय कैसा होगा?, पर, हम इसे आसानी से समझ नहीं पाते।

25. “यह हाथ है” इस प्रतिज्ञप्ति के बारे में भी त्रुटि हो सकती है। केवल विशिष्ट परिस्थितियों में ही यह असंभव है। — “परिकलन में भी भूल हो सकती है — केवल विशिष्ट परिस्थितियों में ही त्रुटि संभव नहीं होती।”

26. किन्तु क्या किसी नियम से ही यह जानना संभव है कि परिकलन-नियम का प्रयोग किन परिस्थितियों में दोषपूर्ण नहीं होगा?

यहाँ नियम का हमारे लिए क्या उपयोग है? क्या हम इसके प्रयोग में त्रुटि नहीं कर सकते?

27. फिर भी, यदि हम यहाँ नियम जैसी कोई चीज बनाना चाहें तो उसमें हमें यह कहना होगा कि वह “सामान्य परिस्थितियों में” ही लागू होता है। सामान्य परिस्थितियों को हम पहचानते तो हैं किन्तु उनका हूबहू विवरण नहीं दे सकते। अधिकाधिक हम कुछ असामान्य परिस्थितियों का वर्णन कर सकते हैं।

28. ‘नियम सीखने’ का क्या अभिप्राय है? — यह।

‘उस नियम-प्रयोग में भूल’ का क्या अभिप्राय है? — यह। और ऐसा कहते समय किसी अनिश्चित विषय को इंगित किया जाता है।

29. नियम प्रयोग के अभ्यास से भी प्रायोगिक-दोष का पता चलता है।

30. किसी विषय के बारे में निश्चित राय बना लेने पर हम कहते हैं : “हाँ, परिकलन बिल्कुल ठीक है”, किन्तु इसका अनुमान वह अपनी निश्चित राय से नहीं करता। हम अपनी निश्चित राय से परिस्थितियों का अनुमान नहीं लगाते।

निश्चित राय, तो मानो, परिस्थितियों की अभिव्यक्ति की हमारी शैली होती है, किन्तु उस शैली से ही हमारी बात के ठीक होने का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

31. उन्मत्त व्यक्ति की भाँति बारम्बार दोहराए जाने वाले वाक्यों को मैं दार्शनिक-भाषा से बहिष्कृत कर देना चाहता हूँ।

32. यह मूअर के जानने की बात नहीं है कि यह एक हाथ है, अपितु स्थिति तो यह है कि यदि वे कहते “निस्संदेह मैं इस विषय में भूल कर सकता हूँ” तो हम उनकी बात को समझ नहीं पाते। हमें पूछना चाहिए “ऐसी त्रुटि कैसे होगी?” — उदाहरणार्थ, ऐसी त्रुटि का पता कैसे चलेगा?

33. अतः, हम ऐसी प्रतिज्ञप्तियों को बहिष्कृत कर देते हैं जिनसे हमें कोई लाभ नहीं होता।

34. जब हम किसी को परिकलन सिखाते हैं तो क्या हम उसे अपने अध्यापक के परिकलन पर भरोसा करना भी सिखाते हैं? किन्तु इन सभी व्याख्याओं का कहीं तो अन्त होना ही चाहिए। क्या हमें उसे यह भी बतलाना होगा कि वह अपनी इन्द्रियों पर भरोसा कर सकता है — क्योंकि उससे कई बार वस्तुत : यह भी कहा जाता है कि अमुक-अमुक परिस्थिति में वह उन पर भरोसा नहीं कर सकता? —

नियम और अपवाद।

35. किन्तु क्या किसी भी भौतिक पदार्थ के अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती? मैं नहीं जानता। पर फिर भी “भौतिक पदार्थों का अस्तित्व है” ऐसा कहना निरर्थक है। क्या इसे आनुभविक प्रतिज्ञप्ति कहा जा सकता है? —

और क्या यह आनुभविक प्रतिज्ञप्ति है : “ऐसा लगता है कि भौतिक पदार्थों का अस्तित्व है”?

36. “अ एक भौतिक पदार्थ है” यह एक ऐसे व्यक्ति को दी जाने वाली सीख है जिसे अभी तक या तो यह नहीं पता कि “अ” क्या है, या फिर जो “भौतिक पदार्थ” के अर्थ से अनभिज्ञ है। यानी यह वाक्य तो शब्द प्रयोग को सीखना है, पर “भौतिक पदार्थ” एक तार्किक प्रत्यय है। (जैसे कि रंग, परिमाण,....) यही कारण है कि “भौतिक पदार्थों का अस्तित्व है” जैसी कोई प्रतिज्ञप्ति प्रतिपादित नहीं की जा सकती।

फिर भी हमारा सामना ऐसे असफल प्रयासों से हमेशा होता रहता है।

37. "भौतिक पदार्थों का अस्तित्व है" इस अभिव्यक्ति को निरर्थक कहने से क्या किसी प्रत्ययवादी के सन्देह अथवा किसी यथार्थवादी के विश्वास का समुचित उत्तर दिया जा सकता है। उनके लिए तो यह निरर्थक नहीं है। बेशक ऐसा कहना एक हल हो सकता है : यह कथन या इस कथन का विलोम किसी ऐसी अनिर्वचनीय बात को कहने का असफल प्रयास है। सिद्ध किया जा सकता है कि यह एक असफल प्रयास है; किन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। हमें यह समझना चाहिए कि, यह संभव है कि, किसी समस्या या उसके समाधान की हमारी पहली सूझ ठीक से अभिव्यक्त ही न हुई हो। जैसे फिल्म की सम्यक्-समीक्षा के लिए समीक्षक सर्वप्रथम सर्वाङ्गीण आलोचना करता है पर बाद में अपनी सर्वाङ्गीण-आलोचना की पड़ताल के बाद ही सही समीक्षा कर पाता है।

38. गणित में ज्ञान : इसमें हमें 'भीतरी प्रक्रिया' अथवा 'स्थिति' की महत्त्वहीनता का निरंतर स्मरण रखना पड़ता है, और निरन्तर यह याद रखना पड़ता है "इसे महत्त्वपूर्ण क्यों होना चाहिए? मुझे इससे क्या लेना-देना?" गणितीय प्रतिज्ञप्तियों का प्रयोग ही महत्त्वपूर्ण होता है।

39. परिकलन ऐसे ही किये जाते हैं, अमुक परिस्थितियों में परिकलन पूर्णत : विश्वसनीय और बिल्कुल सही माना जा सकता है।

40. "यह मेरा हाथ है" ऐसा कहने पर पूछा जा सकता है "आप कैसे जानते हैं?" और इसके उत्तर की पूर्वमान्यता है कि इसे ऐसे जाना जा सकता है। अतः, "मैं जानता हूँ कि यह मेरा हाथ है" ऐसा कहने के बजाय "यह मेरा हाथ है" ऐसा कहा जा सकता है और साथ ही साथ हम यह भी बतला सकते हैं कि हम इसे कैसे जानते हैं।

41. "मैं जानता हूँ कि मुझे पीड़ा कहाँ हो रही है", "मैं जानता हूँ कि मुझे यहाँ पीड़ा हो रही है" यह कहना उतना ही गलत है जितना "मैं जानता हूँ कि मैं वेदनाग्रस्त हूँ"। किन्तु "मैं जानता हूँ कि आपने मेरी बाँह को कहाँ छुआ" यह कहना उचित है।

42. यह तो कहा जा सकता है कि “वह ऐसा मानता है, पर ऐसा है नहीं”। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि” वह इसे जानता तो है किन्तु, यह ऐसा है नहीं”। क्या इसका कारण मानने और जानने की मानसिक स्थिति के भेद में निहित है? नहीं। — उदाहरणार्थ, उच्चारण-शैली, भाव-भंगिमा इत्यादि द्वारा अभिव्यक्त विषय को “मानसिक स्थिति” कहा जा सकता है। यानी, दृढ़ धारणा की मानसिक स्थिति का उल्लेख करना संभव होना चाहिए। वह स्थिति ज्ञान और भ्रान्त धारणा के मामले में एक सी ही होगी। प्रत्ययों की भिन्नता के कारण “जानने” और “मानने” शब्दों के अनुरूप विभिन्न स्थितियां मानना “मैं” और “लुडविग” शब्दों के अनुरूप विभिन्न व्यक्तियों को मानने जैसा होगा।

43. यह किस प्रकार की प्रतिज्ञप्ति है : “12 × 12 = 144 परिकलन में हम भूल कर ही नहीं सकते”? यह तार्किक प्रतिज्ञप्ति होनी चाहिए। — किन्तु क्या यह प्रतिज्ञप्ति 12 × 12 = 144 कथन जैसी ही नहीं है?

44. किन्तु यह पूछे जाने पर कि किस नियम से यह पता चलता है कि हम इस बारे में गलती कर ही नहीं सकते, यह उत्तर दिया जा सकता है कि हमें इसका पता किसी नियम से न चलकर परिकलन की विधि से चलता है।

45. परिकलन की विधि सीखने से ही हमें परिकलन के स्वरूप का पता चलता है।

46. तो क्या यह नहीं बतलाया जा सकता कि परिकलन की विश्वसनीयता के बारे में हम स्वयं को कैसे सन्तुष्ट करते हैं? हम कुछ कह तो सकते हैं! किन्तु इससे कोई नियम नहीं बनता। — किन्तु महत्त्वपूर्ण बात तो यह है : नियम की आवश्यकता ही नहीं होती। कोई कमी है भी नहीं। हम नियमानुसार परिकलन करते हैं और यही काफी है।

47. हम परिकलन ऐसे करते हैं। परिकलन ऐसे होता है। जैसा कि, उदाहरणार्थ, हम पाठशाला में सीखते हैं। आत्मा के प्रत्यय से जुड़ी लोकोत्तर असंदिग्धता को भूल जायें।

48. कतिपय परिकलन सर्वदा विश्वसनीय कहे जा सकते हैं, और शेष का निर्धारण करना बाकी है। पर क्या यह तार्किक भेद है?

49. पर याद रखें : परिकलन का निर्धारण किसी व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही होता है।

50. हम कब यह कहते हैं कि ...×...=...? जब हमने परिकलन को जाँच लिया होता है।

51. यह किस प्रकार की प्रतिज्ञप्ति है : “यहाँ भूल कैसे हो सकती है!”? इसे तो तार्किक प्रतिज्ञप्ति होना चाहिए। किन्तु क्या यह ऐसा तर्क है जिसको प्रतिज्ञप्तियों द्वारा सिखाया न जा सकने के कारण हम प्रयोग में नहीं लाते। — यह एक तार्किक प्रतिज्ञप्ति है; क्योंकि यह प्रत्ययात्मक (भाषिक) परिस्थिति का विवरण देती है।

52. अतः, यह स्थिति “सूर्य से इतनी दूरी पर एक ग्रह है” या फिर “यह एक हाथ है” (उदाहरणार्थ, मेरा हाथ) प्रतिज्ञप्ति जैसी नहीं है। बाद वाले वाक्य को प्राक्कल्पना नहीं कहा जा सकता। फिर भी इन दोनों प्रतिज्ञप्तियों में कोई सुनिश्चित भेद नहीं है।

53. यानी, कहा जा सकता है कि मूअर ठीक कह रहे हैं, यदि उनके कथन का यह अर्थ लगाया जाए : ‘यहाँ एक हाथ है’ आशय वाले वाक्य का वही तार्किक स्थान है जो ‘यहाँ एक लाल धब्बा है’ आशय वाले वाक्य का होता है।

54. क्योंकि यह कहना तो ठीक नहीं है कि जैसे-जैसे हम किसी ग्रह की जानकारी से अपने हाथ की जानकारी की ओर चलते हैं गलती करने की संभावना कम होती जाती है। नहीं : एक बिंदु पर आकर उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

निम्नलिखित से इसका पता चलता है : यदि ऐसा नहीं होता तो भौतिक वस्तुओं संबंधी प्रत्येक कथन के बारे में भूल करने की कल्पना की जा सकती थी; और यह भी कल्पना की जा सकती थी कि भौतिक वस्तुओं के बारे में कहे गए सभी कथन गलत हैं।

55. तो क्या यह प्राक्कल्पना संभव है कि हमारे चारों ओर फैली वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है? क्या यह अपने सभी परिकलनों में गलती कर जाने की प्राक्कल्पना जैसी नहीं होगी?

56. जब हम कहते हैं : "शायद इस ग्रह का अस्तित्व नहीं है, और इस प्रकाश-संवृति का कोई अन्य कारण है", तो हमें किसी अस्तित्वयुक्त वस्तु के उदाहरण की आवश्यकता पड़ती है। इसका अस्तित्व नहीं है, — जैसे कि, उदाहरणार्थ,.... का अस्तित्व है।

या फिर हमें कहना होगा कि निश्चितता एक ऐसी कसौटी है जिस पर कुछ चीजें अधिक और कुछ कम खरी उतरती हैं। नहीं। संशय शनै : शनै : अपने अर्थ को खोता है। यह भाषा-खेल ऐसा ही है।

और भाषा-खेल का वर्णन करने वाली हर एक बात तर्क का अंग होती है।

57. तो क्या "मैं जानता हूँ, न कि इस बात का अनुमान लगाता हूँ, कि यह मेरा हाथ है" इस वाक्य को व्याकरण की प्रतिज्ञप्ति नहीं समझा जा सकता? यानी कि इसे लौकिक नहीं समझा जा सकता। —

किन्तु फिर क्या यह ऐसी नहीं होगी : "मैं जानता हूँ, न कि इस बात का अनुमान लगाता हूँ कि मैं लाल रंग देख रहा हूँ"?

और क्या यह परिणाम कि "अतः, भौतिक वस्तुएं होती हैं" इस परिणाम : "अतः रंग होते हैं" जैसा नहीं होता?

58. यदि "मैं जानता हूँ इत्यादि" को व्याकरणिक प्रतिज्ञप्ति जैसा समझा जाए तो "मैं" महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकता। और उसका उचित अर्थ है कि "इस स्थिति में संशय जैसी कोई बात नहीं है" अथवा "इस स्थिति में 'मैं नहीं जानता' का कोई अर्थ ही नहीं होता"। और इससे यह पता चलता है कि "मैं जानता हूँ" का भी कोई अर्थ नहीं होता।

59. यहाँ "मैं जानता हूँ" तो एक तार्किक अन्तर्दृष्टि है। केवल वस्तुवाद ही इससे सिद्ध नहीं होता।

<u>60.</u> यह कहना गलत है कि यह कागज का एक टुकड़ा है और बाद का अनुभव इस प्राक्कल्पना की पुष्टि या खण्डन करेगा, और यह कहना भी गलत है कि "मैं जानता हूँ कि यह कागज का एक टुकड़ा है", इस वाक्य में "मैं जानता हूँ" किसी प्राक्कल्पना या फिर किसी तार्किक संकल्प से संबंधित है।

<u>61.</u> ... किसी शब्द का अर्थ उसका प्रयोग है।

क्योंकि हमारी भाषा में शामिल होने के बाद ही हम उसे जानते हैं।

<u>62.</u> इसी कारण 'नियम' और 'अर्थ' के प्रत्ययों में संवादिता होती है।

<u>63.</u> तथ्यों की विपरीत कल्पना करने पर कुछ भाषा-खेलों की महत्ता कम हो जाती है, और अन्य भाषा-खेलों की महत्ता बढ़ जाती है। और इस प्रकार भाषा के शब्द-प्रयोग धीरे-धीरे बदल जाते हैं।

<u>64.</u> किसी शब्द के अर्थ की तुलना किसी अधिकारी के 'कार्यभार' से कीजिए। और 'विभिन्न अर्थों' की तुलना 'विभिन्न कार्यभारों' से कीजिए।

<u>65.</u> भाषा-खेलों में बदलाव आने पर प्रत्ययों में बदलाव आ जाता है, और प्रत्ययों में बदलाव से शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं।

<u>66.</u> वास्तविकता को मैं अलग-अलग ढंग से कहता हूँ, इन कथनों में आश्वस्ति-भेद होता है। इस आश्वस्ति की कोटि का हमें कैसे पता चलता है? इसके क्या परिणाम हैं?

उदाहरणार्थ, हम या तो स्मृति की, या फिर प्रत्यक्ष की बात कर रहे हैं। किसी बात के बारे में मैं आश्वस्त हो सकता हूँ, किन्तु फिर भी मुझे पता होगा कि कौनसी जाँच से मुझे गलती का पता चल सकता है। उदाहरणार्थ, किसी युद्ध की तिथि के बारे में मैं पूर्णत : आश्वस्त हूँ किन्तु इतिहास के किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में उस लड़ाई की किसी भिन्न तिथि को देखकर मैं अपने विचार को बदल देता हूँ, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं अपनी निर्णय क्षमता में भरोसा खो बैठा हूँ।

67. क्या हम किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना कर सकते हैं जो ऐसी गलतियां करता रहता है जिन्हें हम कभी कर ही नहीं सकते और जो कभी हमारे सामने नहीं होता?

उदाहरणार्थ, वह कहता है कि वह अमुक स्थान पर रहता है, उसकी अमुक आयु है, वह अमुक शहर का रहने वाला है, और ऐसा वह मेरे जैसी (सभी संकेतों सहित) निश्चितता से करता है, किन्तु वह त्रुटि कर रहा होता है।

पर इस त्रुटि से उसका संबंध कैसा है? मैं क्या समझूँ?

68. प्रश्न तो यह है : तर्कशास्त्री यहाँ क्या कहेगा?

69. मैं कहना चाहूँगा : "यदि मैं इस बारे में भूल कर रहा हूँ तो अपनी कही किसी भी बात की सत्यता की मुझे गारंटी नहीं है।" किन्तु, न तो अन्य लोग मेरे बारे में ऐसा कहेंगे, न ही मैं उनके बारे में ऐसा कहूँगा।

70. महीनों से मैं अ पते पर रहता आया हूँ, घर के नम्बर और वीथि के नाम को मैंने अनगिनत बार पढ़ा है, इस पते पर मुझे असंख्य पत्र मिले हैं और अनेक लोगों को मैंने यह पता दिया है। यदि मैं इस बारे में भी त्रुटि कर रहा हूँ, तो यह भूल किसी भी तरह इस भूल से कम नहीं है कि मैं (त्रुटि करूँ) सोचूँ कि मैं चीनी भाषा में लिख रहा हूँ, न कि हिन्दी भाषा में।

71. यदि मेरा कोई मित्र यकायक यह समझने लगे कि वह अमुक पते इत्यादि पर एक लंबे समय से रह रहा है, तो मुझे इसे उसकी भूल मानने के बजाए यह मानना चाहिए कि उसका दिमाग, संभवत : कुछ समय के लिए, फिर गया है।

72. इस प्रकार की प्रत्येक दोषयुक्त मान्यता गलती नहीं होती।

73. किन्तु भ्रान्ति तथा मानसिक असन्तुलन में क्या भेद है? या फिर मेरे द्वारा इसे भ्रान्ति के रूप में स्वीकार करने तथा इसे मानसिक असन्तुलन के रूप में स्वीकार करने में क्या अन्तर है?

<u>74.</u> क्या हम कह सकते हैं : भूल का कारण ही नहीं होता, उसका आधार भी होता है? यानी, हम कह सकते हैं : जब कोई भूल करता है तो हम उसकी भूल की व्याख्या उसके ज्ञात विषयों के संदर्भ में कर सकते हैं।

<u>75.</u> क्या यह मानना उचित होगा : यदि मैं गलती से यह समझूँ कि मेरे सामने कोई मेज़ पड़ी है, तो इसे भ्रान्ति कहा जा सकता है; किन्तु जब मैं गलती से यह समझू कि मैंने इस या उस जैसी मेज़ को पिछले कई महीनों से हर रोज़ देखा है, और नियमित रूप से उसका प्रयोग भी किया है तो यह भ्रान्ति नहीं होती?

<u>76.</u> स्वाभाविक रूप से मेरा उद्देश्य ऐसे वचनों को कहना है जिन्हें हम कहना तो चाहते हैं किन्तु सार्थक ढंग से कह नहीं पाते।

<u>77.</u> आश्वासन के लिए या तो मैं किसी परिकलन को दुबारा करता हूँ, या फिर किसी अन्य व्यक्ति से ऐसा करने के लिए कहता हूँ। किन्तु क्या मैं इसे बीसियों बार करूँगा, या फिर इस कार्य में बीसियों व्यक्तियों को लगाऊँगा? और क्या यह किसी प्रकार की लापरवाही है? क्या बीस बार जाँचने से कोई परिकलन वस्तुतः अधिक निश्चयात्मक हो जाता है?

<u>78.</u> और ऐसा न होने का क्या कोई कारण दिया जा सकता है?

<u>79.</u> मैं पुरुष हूँ, स्त्री नहीं, इसकी परीक्षा की जा सकती है। किन्तु यदि मैं कहूँ कि मैं एक स्त्री हूँ और फिर यह कह कर अपनी भूल सुधारने की कोशिश करूँ कि मैंने अपने कथन की जाँच ही नहीं की थी तो इसे कोई नहीं मानेगा।

<u>80.</u> मेरे द्वारा अपने कथनों के समझे जाने की कसौटी उन कथनों का सत्य होना है।

<u>81.</u> यानी : जब मैं असत्य बोलता हूँ, तो यह निश्चित नहीं होता कि मैं अपने कहे को समझता हूँ।

<u>82.</u> किसी कथन की पर्याप्त जाँच तो तर्कशास्त्र का विषय है। यह भाषा-खेल के विवरण से संबंधित है।

83. कई आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता हमारी संदर्भ-प्रणाली का विषय है।

84. मूअर का कहना है कि उन्हें पता है कि पृथ्वी का अस्तित्व उनके जन्म के बहुत पहले से है। और इस प्रकार कहे जाने पर ऐसा लगता है कि यह कथन भौतिक जगत् के बारे में होने के साथ-साथ वैयक्तिक भी है। मूअर इसके, या उसके बारे में कुछ जानते हैं, या नहीं, यह तो दार्शनिक रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं है किन्तु इसे या उसे जानने की विधि को जानना दार्शनिक के लिए महत्त्वपूर्ण है। यदि मूअर हमें बताते कि उन्हें दो सितारों के बीच की दूरी का ज्ञान है तो इससे हम यह निष्कर्ष निकालते कि उन्होंने कोई विशिष्ट अनुसंधान किया है और हम उस अनुसंधान के बारे में जानना भी चाहते। किन्तु मूअर तो वही बात कहते हैं जिसे हम सभी जानते हैं किन्तु यह नहीं बतला सकते कि हम उसे कैसे जानते हैं। उदाहरणार्थ, मेरी यह मान्यता है कि (पृथ्वी के अस्तित्व के बारे में) मैं भी मूअर जितना ही जानता हूँ, और यदि वे कहते हैं कि वे जानते हैं कि पृथ्वी है तो मुझे भी यह ज्ञात है। क्योंकि ऐसा नहीं है कि वे किसी पूर्व-निर्धारित चिन्तन-विधि का अवलम्बन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हों। जबकि मैं उस विधि को जानते हुए भी बिना उसके प्रयोग के ही इस निष्कर्ष पर पहुँच गया हूँ।

85. और इसे कैसे जाना जाता है? क्या इतिहास-ज्ञान से? उसे इसका अर्थ जानना होगा : अमुक काल से पृथ्वी का अस्तित्व है। क्योंकि किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति को इस बात का पता होना चाहिए। लोगों को मकान बनाते और तोड़ते देखकर हम पूछते हैं : “इस मकान का अस्तित्व यहाँ कब से है?” किन्तु किसी पर्वत के बारे में हम यही प्रश्न कैसे कर सकते हैं? और क्या सभी व्यक्ति पृथ्वी को एक ऐसी वस्तु समझते हैं जो बनती बिगड़ती रहती है? मैं पृथ्वी को (गहराई समेत) अन्तहीन, दिग्दिगन्त विस्तार वाली चपटी वस्तु क्यों नहीं मानता? किन्तु ऐसी स्थिति में भी कहा जा सकता है कि “मैं जानता हूँ कि इस पर्वत का अस्तित्व मेरे जन्म के बहुत पहले से है।” — पर मान लीजिए कि कोई व्यक्ति ऐसा न मानता हो, तब क्या होगा?

86. मूअर के “मैं जानता हूँ” को “मेरी यह अविचल अवधारणा है” से प्रतिस्थापित करने पर क्या होगा?

87. किसी प्राक्कल्पना के रूप में प्रयुक्त हो सकने की सामर्थ्य वाले प्रकृत वाक्य का क्या हम शोध और व्यवहार के आधार के रूप में प्रयोग नहीं कर सकते? यानी, क्या हम उसे, किसी स्पष्ट नियम के बिना, संशय-रहित नहीं कर सकते? इसे स्वयंसिद्ध मान लिया जाता है, इस पर कभी कोई प्रश्न नहीं उठाया जाता, संभवतः किसी प्रश्न की कभी कल्पना भी नहीं की जाती।

88. उदाहरणार्थ, ऐसा हो सकता है कि हमारी सारी परीक्षा कुछ अभिव्यक्ति-समर्थ प्रतिज्ञप्तियों को संशय-रहित करने के लिए ही हो। वे परीक्षण-विधि के दायरे में नहीं आती।

89. कहा जा सकता है : "…. से भी बहुत पहले से पृथ्वी के अस्तित्व के पक्ष में सभी बातें हैं और उसके विपक्ष में कोई भी बात नहीं है।"

फिर भी क्या मैं इससे विपरीत-कल्पना नहीं कर सकता? किन्तु प्रश्न तो यह है : ऐसी मान्यता का व्यवहार पर क्या असर पड़ेगा? — संभवत : कोई कहे : "बात यह नहीं है। मान्यता तो मान्यता है, वह व्यावहारिक हो या नहीं।" कोई सोच सकता है : यह तो मानव-मन को समझाना ही है।

90. "मैं जानता हूँ" का आदिम अर्थ "मैं देखता हूँ" से मिलता-जुलता है। और "मैं जानता था कि वह कमरे में है किन्तु वह कमरे में था नहीं" यह कथन "मैंने उसे कमरे में देखा किन्तु वह वहाँ नहीं था" इस कथन के समान है। "मैं जानता हूँ" यह कथन मेरे और किसी प्रतिज्ञप्ति (जैसे कि "मेरी मान्यता है") के अर्थ-संबंध को अभिव्यक्त न करके, मेरे और तथ्य के बीच संबंध को अभिव्यक्त करता है। ताकि तथ्य मेरी चेतना में समाहित हो जाये। (इसी कारण हम यह कहना चाहते हैं कि बाह्य जगत् में घटित घटनाओं के बारे में हम कुछ भी नहीं जान सकते, किन्तु इन्द्रियगोचर विषय के क्षेत्र में घटने वाली घटनाओं को ही हम वस्तुत : जान सकते हैं।) इससे हमें प्रत्यक्ष-ज्ञान की प्रतीति होगी, और वह ज्ञान, मन और इन्द्रिय-सन्निकर्ष से प्राप्त होगा। तभी इस प्रतीति की निश्चितता के बारे में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इस प्रतीति से यह तो पता चल ही जाता है कि हमारी कल्पना ज्ञान को कैसे प्रस्तुत करती है, पर यह पता नहीं चलता कि इस प्रस्तुति का आधार क्या है।

91. यदि मूअर यह कहें कि पृथ्वी के अस्तित्व इत्यादि के बारे में उन्हें पता है तो उनके इस कथन पर लगभग सभी लोग विश्वास कर लेंगे, और इसके बारे में उनकी दृढ़ मान्यता को भी स्वीकार कर लेंगे। किन्तु क्या अपनी दृढ़ मान्यता का उनके पास कोई ठोस आधार है? क्योंकि यदि उनके पास इसका कोई ठोस आधार नहीं है तो उन्हें इसका ज्ञान भी नहीं है (रसेल)।

92. फिर भी हम पूछ सकते हैं : थोड़े दिन पहले से ही, उदाहरणार्थ किसी के जन्म के समय से ही, पृथ्वी का अस्तित्व है। इस कथन का क्या कोई उचित आधार हो सकता है? — मान लीजिए कि किसी को केवल यही बताया गया है, — तो क्या इस पर शंका की जा सकती है? मनुष्य यह मानता रहा है कि वह वर्षा कराने में समर्थ है : किसी राजा में यह संस्कार क्यों नहीं डाला जा सकता कि वह यह सोचने लगे कि इस संसार का प्रादुर्भाव उसके जन्मकाल से ही हुआ है? और यदि मूअर और यह राजा कभी मिलते और वार्तालाप करते तो क्या मूअर उस राजा के समक्ष अपनी मान्यता के औचित्य को सिद्ध कर पाते? मैं यह तो नहीं कहता कि मूअर उस राजा के विचारों में परिवर्तन नहीं ला पाते, अपितु मेरा तो यह कहना है कि यह एक विशेष प्रकार का परिवर्तन होगा; राजा का संसार के बारे में दृष्टिकोण ही बदल जाएगा।

याद रखें कि कभी-कभी हम किसी दृष्टिकोण की सरलता अथवा सहजता के कारण ही उसके औचित्य को मान लेते हैं, यानी, इनके कारण ही हम उस दृष्टि-कोण को अपनाते हैं। उसे अपनाकर हम कुछ ऐसा कहते हैं : "ऐसा ही इसे होना चाहिए।"

93. मूअर द्वारा अपने ज्ञान के बारे में प्रस्तुत सभी प्रतिज्ञप्तियां ऐसी ही हैं कि उन प्रतिज्ञप्तियों से विपरीत की कोई कल्पना भी कैसे कर सकता है। उदाहरणार्थ, इस प्रतिज्ञप्ति पर कि मूअर ने अपना संपूर्ण जीवन पृथ्वी के समीप ही बिताया है। — एक बार फिर मैं यहाँ मूअर के स्थान पर अपने बारे में बात कर सकता हूँ। इससे विपरीत विश्वास करने के मेरे कौनसे कारण हो सकते हैं? या तो स्मृति या फिर सुनी-सुनाई बात। — जो कुछ भी मैंने देखा अथवा सुना है उससे मैं आश्वस्त हुआ हूँ कि कोई भी व्यक्ति पृथ्वी से बहुत दूर नहीं गया है। संसार के मेरे चित्र में ऐसी कोई भी बात नहीं है जो इसके विपरीत है।

<u>94.</u> किन्तु संसार के अपने चित्र को न तो मैंने उसके औचित्य को मान कर बनाया है, न ही मैं इस चित्र को इसके उचित होने के कारण मानता हूँ। नहीं : संस्कारों से ही मैं सत्य और असत्य में भेद करता हूँ।

<u>95.</u> संसार के इस चित्र का विवरण देने वाली प्रतिज्ञप्तियां किसी मिथक का अंग हो सकती हैं। और उनकी भूमिका किसी खेल के नियमों जैसी होती है; और उस खेल को बिना नियम सीखे, नितान्त व्यावहारिक रूप से भी सीखा जा सकता है।

<u>96.</u> आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों के आकार वाली ऐसी प्रतिज्ञप्तियों की कल्पना की जा सकती है जो रूढ़ होने के कारण ऐसी आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों का माध्यम बन गई हों जो रूढ़ नहीं हुई हों; और इसकी भी कल्पना की जा सकती है कि समय के साथ-साथ उनका यह संबंध भी इस प्रकार परिवर्तित होता रहे कि रूढ़ प्रतिज्ञप्तियां रूढ़ न रहें और वे प्रतिज्ञप्तियां जो अभी रूढ़ नहीं हैं कालान्तर में वे रूढ़ हो जायें।

<u>97.</u> मिथक बदल सकते हैं; विचारधारा की दिशा बदल सकती है। किन्तु मैं नदी के बहाव, नदी की धारा के बदलाव में भेद करता हूँ; यद्यपि दोनों में कोई सुस्पष्ट भेद नहीं है।

<u>98.</u> किन्तु, यदि कोई कहता है कि "अतः, तर्कशास्त्र भी आनुभविक-विज्ञान है" तो यह उसकी भूल होगी। फिर भी यह कहना ठीक है : एक ही प्रतिज्ञप्ति कभी तो अनुभव से जाँची जाती है और कभी उसी प्रतिज्ञप्ति को जाँच की कसौटी बना लिया जाता है।

<u>99.</u> और नदी-तट तो उन कठोर चट्टानों, जिनमें या तो कोई परिवर्तन होता ही नहीं या फिर परिवर्तन दिखाई नहीं देता, और बालू के उन ढेरों से बना होता है जो आज यहाँ हैं और कल कहीं और।

<u>100.</u> जिन प्रतिज्ञप्तियों को मूअर कहते हैं कि वे जानते हैं, वे ऐसी प्रतिज्ञप्तियां हैं जिन्हें यदि मूअर जानते हैं तो कमोबेश हम सभी जानते हैं।

101. उदाहरणार्थ, “मेरा शरीर लुप्त होने के पश्चात् फिर कभी भी प्रकट नहीं हुआ” एक ऐसी ही प्रतिज्ञप्ति है।

102. क्या मैं इस पर विश्वास नहीं कर सकता कि कभी, अनजाने में, शायद बेहोशी की हालत में, मुझे पृथ्वी से बहुत दूर ले जाया गया — यद्यपि दूसरे लोग इस बारे में जानते हैं फिर भी मुझे इस बारे में नहीं बताते? किन्तु यह बात मेरे अन्य विश्वासों से मेल नहीं खाती। हालांकि मैं अपनी विश्वास-पद्धति का विवरण नहीं दे सकता। फिर भी मेरे विश्वासों की एक व्यवस्था है, एक संरचना है।

103. और अब यदि मैं कहूँ “यह मेरी अविचल धारणा है कि....”, तो इसका अर्थ होगा कि इस परिस्थिति में भी मेरा विश्वास किसी विशिष्ट विचारधारा का परिणाम न होकर, मेरे सभी प्रश्नों एवं उत्तरों से कुछ ऐसे जुड़ा है कि मुझे उसका पता नहीं चलता।

104. उदाहरणार्थ, मेरा यह भी दृढ़ विश्वास है कि आकाश में सूर्य कोई ऐसा छिद्र नहीं है जो स्वर्ग का मार्ग हो।

105. किसी प्राक्कल्पना की जाँच, उसकी पुष्टि अथवा उसका निराकरण किसी प्रणाली में ही किया जाता है। और वह प्रणाली हमारी तर्क-पद्धति से कमोबेश भिन्न नहीं है। नहीं : अपितु वह तो हमारी युक्तियों का सार है। प्रणाली के कारण भिन्नता नहीं होती बल्कि उसी के कारण युक्तियां जीवन्त होती हैं।

106. मान लीजिए कि कोई बुजुर्ग किसी शिशु से कहे कि वह चाँद पर जा चुका है। शिशु के मुझे यह बताने पर मैं उसे कहता हूँ कि वह तो एक मज़ाक था, वह व्यक्ति चाँद पर नहीं गया; चाँद बहुत दूर है और वहाँ पर चढ़ पाना, या उड़ जाना असंभव है। — पर यदि अब शिशु जिद करे कि वहाँ जाने का रास्ता तो है किन्तु उस रास्ते का मुझे पता ही नहीं है तो मैं उसे क्या जवाब दूँ? किसी जनजाति के ऐसे बुजुर्गों को जिनकी मान्यता हो कि कभी-कभी लोग चाँद पर चले जाते हैं (संभवत : वे अपने स्वप्नों की व्याख्या ऐसे करते हैं), और जो यह भी मानते हों कि चाँद पर चढ़ जाने, या उस तक उड़ कर जाने का कोई साधारण साधन नहीं है, उनको मैं क्या उत्तर दूँ? — किन्तु, साधारणतः शिशु ऐसी मान्यता से चिपकेगा नहीं और हमारी सीख को मान लेगा।

107. क्या बिल्कुल इसी तरह किसी शिशु को ईश्वर के अस्तित्व या उसके न होने पर विश्वास करना नहीं सिखाया जा सकता? और फिर तदनुसार वह शिशु ईश्वर के होने या न होने के बारे में विलक्षण युक्तियां प्रस्तुत कर सकता है।

108. "तो क्या वस्तुनिष्ठ सत्य जैसा कुछ होता ही नहीं? कोई व्यक्ति चाँद पर गया है, क्या यह कथन सत्य या असत्य नहीं है? यदि हम अपनी विचार-प्रणाली में ही सोचते हैं तो यह निश्चित है कि कोई भी व्यक्ति कभी भी चाँद पर नहीं गया। इस बारे में न तो हमें कभी किसी आप्तपुरुष ने गंभीरतापूर्वक बताया है और न ही हमारा भौतिक-ज्ञान इस पर विश्वास करने देता है। क्योंकि इस पर विश्वास करने पर हमें, "उसने गुरुत्त्वाकर्षण पर कैसे विजय पायी?", "वह वायु के बिना कैसे जी पाया?" जैसे सैंकड़ों प्रश्नों के उत्तर देने होंगे और हम उनके उत्तर नहीं दे पाते। किन्तु मान लीजिए कि इन उत्तरों के बजाए हमें यह कहा जाए : "हम नहीं जानते कि चाँद पर कैसे पहुँचा जाता है, किन्तु उस पर पहुँचने वालों को पता चल जाता है कि वे चाँद पर हैं; और आप हर बात की व्याख्या तो नहीं कर सकते।" ऐसा कहने वाले व्यक्ति से बात करना हमें कठिन लगता है।

109. (हम कहते हैं कि) "आनुभविक प्रतिज्ञप्ति की जाँच की जा सकती है।" पर कैसे? और किस विधि से?

110. जाँच से क्या अभिप्राय है? — "किन्तु क्या यह जाँच पर्याप्त है? और यदि यह पर्याप्त है तो क्या इसे तर्कशास्त्र से मान्यता नहीं मिलनी चाहिए?" — मानो आधारों का कोई अन्त ही नहीं होता। किन्तु अन्त आधारहीन प्राक्कल्पना तो नहीं होता : वह तो व्यवहार का आधारहीन ढंग होता है।

111. "मैं जानता हूँ कि मैं कभी भी चाँद पर नहीं गया।" सामयिक परिस्थितियों में यह कहना एक बात है और यदि बहुत से लोग, जिन में से कई बिना यह जाने कि वे चाँद पर गए हैं, चाँद पर गए होते तो यह कहना दूसरी बात होती। इस परिस्थिति में अपने इस ज्ञान के आधार दिए जा सकते थे। क्या इन दोनों बातों का संबंध परिकलन के साधारण नियमों और वास्तविक परिकलन जैसा नहीं है?

मैं कहना चाहता हूँ : चाँद पर मेरे न जाने के बारे में मैं उतना ही आश्वस्त हूँ जितना कि इसकी पुष्टि में दिए गए किसी भी आधार के बारे में।

112. जब मूअर कहते हैं कि वे इन सब बातों को जानते हैं तो क्या वे भी यही बात नहीं कहते? — किन्तु उनके इन बातों को जानने के बारे में क्या कोई शंका है या फिर इनमें से कुछ प्रतिज्ञप्तियों को हमारे द्वारा संशय-रहित मानने में कोई दुविधा है?

113. कोई हमें गणित यह कहकर नहीं सिखाता कि वह जानता है कि **क + ख = ख + क**।

114. यदि आप किसी तथ्य के बारे में आश्वस्त नहीं हैं तो आप अपने शब्दों के अर्थ के बारे में भी आश्वस्त नहीं हो सकते।

115. यदि आप हर बात पर संदेह करें तो आप किसी भी बात पर संदेह नहीं कर पाऐंगे। आश्वासन संदेह के खेल की पूर्वमान्यता है।

116. "मैं जानता हूँ कि...." कहने के बदले क्या मूअर यह नहीं कह सकते थे : "मैं इस बारे में आश्वस्त हूँ कि...."? और फिर यह कहते : "मैं और अनेक अन्य लोग इस बारे में आश्वस्त हैं कि....।"

117. इस बात के बारे में मैं शंकित क्यों नहीं हो सकता कि मैं कभी भी चाँद पर नहीं गया हूँ? और इस पर मैं संदेह कैसे करूँ?

सबसे बड़ी बात तो यह है कि चाँद पर अपने जाने की अपनी प्राक्कल्पना मुझे बेकार लगती है। न तो इसका कोई परिणाम है और न ही इससे किसी चीज की व्याख्या होती है। यह मेरे जीवन की किसी भी बात से मेल नहीं खाती।

जब मैं कहता हूँ कि "इसके पक्ष में कुछ भी नहीं है और विपक्ष में सब कुछ है" तो मेरी यह पूर्वधारणा होती है कि इसके पक्ष अथवा विपक्ष में कोई न कोई सिद्धान्त है। यानी मैं कह सकता हूँ कि इसके पक्ष में क्या है।

118. तो क्या यह कहना ठीक होगा : अभी तक किसी ने भी मेरी खोपड़ी खोलकर उसमें मस्तिष्क को नहीं देखा; किन्तु मेरी खोपड़ी को खोलने पर उन्हें जो मिलेगा उसके पक्ष में सब कुछ है और विपक्ष में कुछ भी नहीं?

119. किन्तु क्या यह भी कहा जा सकता है : किसी के द्वारा न देखे जाने पर भी मेज़ के वहीं रखे रहने के पक्ष में सब कुछ है और विपक्ष में कुछ भी नहीं? क्योंकि उसके पक्ष में क्या होगा?

120. किन्तु यदि कोई इस बारे में सन्देह करता तो व्यवहार में वह उसे कैसे दिखा पाता? और हम उसे इस बात पर सन्देह करने से क्यों रोकें, चूँकि इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता?

121. क्या यह कहा जा सकता है : "जहाँ सन्देह नहीं होता वहाँ ज्ञान भी नहीं होता"?

122. क्या सन्देह के लिए आधार की आवश्यकता नहीं है?

123. मुझे तो कहीं भी.... इस बात पर सन्देह करने का आधार दिखलाई नहीं देता।

124. मैं कहना चाहता हूँ : हम विवेक के सिद्धान्त के रूप में विवेक का ही प्रयोग करते हैं।

125. किसी अंधे व्यक्ति द्वारा यह पूछे जाने पर कि "क्या तुम्हारे दो हाथ हैं?" मैं अपने हाथों को देखकर आश्वस्त नहीं होता। यदि मुझे इस पर संदेह है तो मैं नहीं जानता कि मुझे अपनी आँखों की जाँच भी अपने दोनों हाथों को देखकर क्यों नहीं करनी चाहिए? किसकी जाँच किससे करें? (औचित्य-निर्धारण कैसे होता है?)

और यह कहने का क्या अर्थ है कि यही ठीक है?

126. अपने शब्दों के अर्थ के बारे में मैं उतना ही आश्वस्त होता हूँ जितना विशिष्ट निर्णयों के बारे में। क्या मैं इस बात पर संदेह कर सकता हूँ कि इस रंग को “नीला” कहते हैं?

(मेरे) संशय एक प्रणाली बनाते हैं।

127. मैं कैसे जानता हूँ कि कोई दुविधा में है? मैं कैसे जानता हूँ कि “मुझे सन्देह है” इन शब्दों का प्रयोग अन्य व्यक्ति भी मेरी तरह ही करते हैं?

128. बचपन से ही मैंने इस प्रकार निर्णय लेना सीखा हैं। इसे ही निर्णय लेना कहते हैं।

129. मैंने निर्णय लेना ऐसे सीखा; इसे ही मैंने निर्णय के रूप में जाना।

130. किन्तु क्या अनुभव हमें नहीं सिखाता कि निर्णय ऐसे लेना होता है, यानी, इस प्रकार निर्णय लेना ठीक है? किन्तु अनुभव हमें कैसे सिखाता है? अनुभव से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं किन्तु अनुभव हमें इसकी इजाज़त नहीं देता। यदि इस प्रकार के हमारे निर्णय का यह आधार है, किन्तु उसका कारण नहीं है तो भी उसे आधार के रूप में समझने का हमारा कोई कारण नहीं है।

131. नहीं, निर्णय के खेल में अनुभव कोई आधार नहीं होता। न ही उसकी सार्वत्रिक सफलता इसका आधार होती है।

132. मनुष्यों की यह अवधारणा रही है कि राजा वर्षा करा सकते हैं; हम कहते हैं कि यह हमारे समस्त अनुभवों के विरुद्ध है। आज उनकी यह अवधारणा है कि वायुयान और रेडियो इत्यादि लोगों से निकट सम्पर्क स्थापित करने में और संस्कृति के प्रसार में सहायक हैं।

133. साधारणतया मैं अपने दोनों हाथों को देखकर उनके अस्तित्व के बारे में आश्वस्त नहीं होता। क्यों नहीं? क्या मुझे अनुभव से पता चला है कि यह व्यर्थ है? या (फिर) : क्या हमने पहले किसी सार्वभौमिक आगमनात्मक नियम को सीखकर यहाँ भी उस पर विश्वास करना शुरू कर दिया? — किन्तु हमें विशिष्ट नियम की बजाय सार्वभौमिक नियम का पता पहले क्यों चलता है?

134. किसी पुस्तक को मेज़ की दराज़ में रखकर मैं उसके वहीं रखे रहने की कल्पना करता हूँ जब तक कि....। "अनुभव सदा मुझे ठीक सिद्ध करता है। पुस्तक के (यकायक) लुप्त होने का कोई प्रामाणिक अनुभव नहीं है।" किसी विशेष स्थान पर पुस्तक के होने का पक्का अनुमान होने पर भी कभी-कभी पुस्तक वहाँ उपलब्ध नहीं होती। — किन्तु अनुभव से ही हमें वास्तव में यह पता चलता है कि कोई पुस्तक लुप्त नहीं हो जाती। (उदाहरणार्थ, वह भाप बन कर शनै : शनै : उड़ नहीं जाती।) किन्तु क्या पुस्तकों इत्यादि के इस अनुभव के कारण हम यह मान लेते हैं कि पुस्तक लुप्त नहीं हुई है? — क्या हमें अपनी प्राक्कल्पना को बदल नहीं देना चाहिए? क्या हम प्राक्कल्पना-प्रणाली पर पड़े अपने अनुभव के प्रभाव को झुठला सकते हैं?

135. क्या हम सदैव इस (या ऐसे) सिद्धान्त का अनुसरण नहीं करते कि जो हमेशा से होता चला आया है वह पुनः घटित होगा? इस सिद्धान्त के अनुसरण का क्या अभिप्राय है? क्या हम इसे अपनी युक्तियों में शामिल करते हैं? या फिर, क्या यह कोई ऐसा प्राकृतिक नियम है जिसका अनुमान-प्रक्रिया सहज ही पालन करती है? यह तो सम्भव है। यह हमारे विचार का विषय नहीं है।

136. जब मूअर कहते हैं कि वे अमुक बात जानते हैं, तो वे ऐसी अनेक आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को गिनाते हैं जिन्हें हम बिना विशेष जाँच के ही स्वीकार कर लेते हैं; यानी, ये ऐसी प्रतिज्ञप्तियां हैं जिनकी हमारी आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की प्रणाली में एक विशिष्ट तार्किक भूमिका है।

137. किसी विश्वसनीय व्यक्ति के द्वारा अपने किसी विषय के ज्ञान के बारे में मुझे भरोसा देने पर भी जरूरी नहीं कि मैं उसके ज्ञान के बारे में संतुष्ट हो जाऊँ। इससे तो उसके ज्ञान के विश्वास का पता चलता है। इसी कारण मूअर के इस आश्वासन में कि उन्हें पता है कि.... हमारी कोई दिलचस्पी नहीं है। फिर भी

उन्हें ज्ञात सत्य प्रतिज्ञप्तियों के उदाहरण निस्संदेह रोचक हैं। इन प्रतिज्ञप्तियों के रोचक होने का कारण उनका सार्वभौमिक सत्य होना या सार्वजनिक रूप में स्वीकृत होना न होकर, हमारे आनुभविक निर्णयों की प्रणाली में उनकी समान भूमिका होना है।

<u>138.</u> उदाहरणार्थ, हमें अन्वेषण से उनमें से किसी का भी पता नहीं चलता।

पृथ्वी के उद्भव, उसकी आकृति और उसके इतिहास संबंधी अन्वेषण तो किए जाते हैं किन्तु इस बात का कोई अन्वेषण नहीं होता कि पृथ्वी का अस्तित्व पिछले सौ सालों से है। इस काल की जानकारी हमें अपने माता-पिता या अपने दादा-दादी से मिलती है; किन्तु क्या वे भूल नहीं कर सकते? — "बकवास!" हम कहेंगे। "ये सभी कैसे त्रुटि कर सकते हैं?" — किन्तु यह कौनसी युक्ति हुई? क्या यह विचार की ही अस्वीकृति नहीं है? और संभवत : किसी प्रत्यय के निर्धारण की भी? क्योंकि यहाँ किसी संभावित भूल का उल्लेख करने पर हमारे जीवन में "भूल" और "सत्य" प्रत्ययों की भूमिका भी बदल जाती है।

<u>139.</u> किसी परिपाटी की स्थापना के लिए नियमों के साथ-साथ उदाहरणों की भी आवश्यकता होती है। हमारे नियमों से कई बातें छूट जाती हैं, परिपाटी को ही उन्हें पूरा करना पड़ता है।

<u>140.</u> नियम सीखने से हम आनुभविक निर्णय की परिपाटी नहीं सीखते : हमें निर्णय और अन्य निर्णयों के साथ उनके संबंधों के बारे में सिखाया जाता है। निर्णयों का कोई समुच्चय हमें युक्तियुक्त लगने लगता है।

<u>141.</u> पहले-पहल जब हम किसी बात पर विश्वास करने लगते हैं तो हम किसी प्रतिज्ञप्ति पर विश्वास न करके, प्रतिज्ञप्तियों के एक सम्पूर्ण तन्त्र पर विश्वास करते हैं। (सम्पूर्ण तन्त्र ही उद्भासित हो जाता है।)

<u>142.</u> कोई स्वयंसिद्ध सिद्धान्त ही मुझे उजागर नहीं होता अपितु एक ऐसी प्रणाली स्पष्ट हो जाती है जिसमें आधार-वाक्य और परिणाम एक दूसरे के पूरक हों।

143. उदाहरणार्थ, कोई मुझे बतलाये कि बहुत पहले कोई इस पर्वत पर चढ़ा था। क्या मैं हमेशा वार्ताकार की विश्वसनीयता के बारे में संदिग्ध रहता हूँ, और क्या मैं वर्षों पहले पहाड़ के अस्तित्व के बारे में भी संशय करता हूँ? शिशु विश्वसनीय और अविश्वसनीय वार्ताकारों के बारे में जानने से बहुत पहले ही अपने तथ्यों को सीख लेता है। पर्वत के दीर्घकालीन अस्तित्व के बारे में वह कभी भी नहीं सीखता : यानी, यहाँ संशय का कोई अवकाश ही नहीं। सिखाए गए पाठ के साथ-साथ वह, इस परिणाम को भी, मानो, आत्मसात् कर लेता है।

144. शिशु अनेक बातों पर विश्वास करना सीखता है। यानी, वह इन विश्वासों के अनुसार व्यवहार करना सीखता है। धीरे-धीरे इन विश्वासों की एक प्रणाली बन जाती है, और उस प्रणाली में कई बातें तो स्थिर हो जाती हैं और कुछ बातें कमोबेश बदलती रहती हैं। स्थिर हो जाने वाली बातों का कारण उनकी मूलभूत स्पष्टता या विश्वसनीयता न होकर, उनका परिवेश ही है।

145. हम कहना चाहते हैं "मेरा समस्त अनुभव ऐसा बताता है"। किन्तु इन अनुभवों द्वारा यह करना कैसे सम्भव है? अनुभवों द्वारा ज्ञापित प्रतिज्ञप्ति उन्हीं अनुभवों की ही एक विशिष्ट व्याख्या है।

"इस प्रतिज्ञप्ति को निश्चित रूप से सत्य मानना भी अनुभव की मेरी व्याख्या ही है।"

146. आकाश में पृथ्वी का एक तैरता हुआ गेंद जैसा हमारा चित्र विगत सौ सालों में भी नहीं बदला है। मैंने कहा "हमारे द्वारा निर्मित पृथ्वी का चित्र इत्यादि" और अब यह चित्र अनेक समस्याओं के समाधान में हमारी सहायता करता है।

किसी पुल की लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई के बारे में मैं हिसाब कर सकता हूँ, कभी-कभी यह भी हिसाब लगा सकता हूँ कि यहाँ पर पुल बनाना नाव चलाने से बेहतर होगा इत्यादि, इत्यादि — किन्तु कहीं न कहीं तो मुझे किसी प्राक्कल्पना या किसी निर्णय से आरंभ करना होगा।

147. गेंद के समान पृथ्वी का चित्र एक अच्छा चित्र है, यह सभी जगह मान्य है, यह एक सरल चित्र भी है — संक्षेप में कहा जा सकता है कि इस चित्र का असंदिग्ध रूप से उपयोग किया जा सकता है।

148. कुर्सी छोड़ने से पहले मैं अपने दो पैरों के अस्तित्व के बारे में अपने-आपको आश्वस्त क्यों नहीं करता? यहाँ क्यों का प्रश्न ही नहीं है? मैं ऐसा बिल्कुल नहीं करता। मैं इसी प्रकार व्यवहार करता हूँ।

149. मेरे निर्णय ही मेरे निर्णय लेने के स्वरूप के परिचायक हैं, वे ही निर्णय के स्वरूप को लक्षित करते हैं।

150. हम अपने दायें और बायें हाथ का भेद कैसे जानते हैं? मैं कैसे जानता हूँ कि मेरा और अन्य व्यक्ति का निर्णय समान होगा? मैं कैसे जानता हूँ कि यह नीला रंग है? इस बारे में जब मैं अपने आप पर ही विश्वास नहीं करता तो मैं किसी अन्य व्यक्ति के निर्णय पर विश्वास क्यों करूँ? क्या यहाँ 'क्यों' का प्रश्न उठता है? क्या मुझे कहीं न कहीं विश्वास की शुरुआत नहीं करनी चाहिए। यानी : कहीं से तो मुझे बिना संशय आरंभ करना होगा; और ऐसा करना जल्दबाज़ी न होकर सामान्यतः ठीक होगा। यह निर्णय-प्रक्रिया का अंश है।

151. मैं कहना चाहूँगा : मूअर ऐसे विषयों को नहीं जानते जिन्हें वे ज्ञात-विषय कहते हैं, यह बात हम दोनों पर समान रूप से लागू होती है; इसे बिल्कुल ठीक मानना हमारी शोध-प्रक्रिया और संशय विधि का अंग है।

152. जिन प्रतिज्ञप्तियों को मैं सदा सही मानता हूँ उन्हें मैं किसी नियोजित ढंग से नहीं सीखता। मैं उन्हें कालान्तर में, किसी वस्तु की धुरी के समान, खोज निकालता हूँ। इस धुरी की स्थिरता नियत नहीं होती, अपितु उसके चारों ओर होने वाली गतिविधि ही उसकी स्थिरता का निर्धारण करती है।

153. मुझे कभी यह नहीं सिखाया गया कि जब मैं अपने हाथों पर ध्यान नहीं देता तो वे लुप्त नहीं हो जाते हैं। न ही मैं अपने कथनों, इत्यादि में इस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता की कल्पना करता हूँ (मानो वे इसी पर निर्भर हों)। सच तो यह है कि इसका अर्थ हमारी समग्र-कथन-पद्धति से ही निकलता है।

154. संशय-रहित परिस्थितियों में भी संशय के संकेत मिलने पर हम उन संकेतों को संशय के संकेत ही नहीं मानते।

यानी : उन संकेतों को संशय के संकेतों जैसा समझने के लिए उनका विशिष्ट परिस्थितियों में ही प्रयोग करना चाहिए, सभी स्थितियों में नहीं।

155. किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में भूल हो ही नहीं सकती। ("सकती" शब्द को यहाँ तार्किक रूप में प्रयोग किया जा रहा है, और इस प्रतिज्ञप्ति का यह अर्थ नहीं है कि उन परिस्थितियों में कोई दोषयुक्त बात नहीं कही जा सकती।) यदि मूअर स्वघोषित निश्चित प्रतिज्ञप्ति को विलोम अर्थ में प्रयुक्त करते तो ऐसा नहीं है कि हम उनकी बातों पर ध्यान नहीं देते : हम उन्हें सिरफिरा मानते।

156. भूल सामाजिक नियमों के दायरे में ही सम्भव है।

157. किसी व्यक्ति के अपने दोनों हाथों और हर हाथ में पाँच अंगुलियों के अस्तित्व को भूल जाने पर क्या होगा? क्या हम उसे समझ पाऐंगे? क्या हम उसकी समझ के विषय में संतुष्ट होंगे?

158. उदाहरणार्थ, क्या मैं हिन्दी भाषा के इस वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अपने अर्थ-ज्ञान के बारे में भूल कर सकता हूँ?

159. शैशव काल में हम तथ्यों को सीखते हैं; उदाहरणार्थ, यह तथ्य कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर में मस्तिष्क होता है, और उन पर विश्वास करते हैं। मेरी मान्यता है कि अमुक आकृति वाला एक टापू ऑस्ट्रेलिया कहलाता है, इत्यादि, इत्यादि मैं मानता हूँ कि मेरे दादा-पड़दादा थे, और यह भी मानता हूँ कि मेरे माता-पिता कहलाने वाले व्यक्ति वास्तव में मेरे माता-पिता थे, इत्यादि। संभवत : इस मान्यता को कभी भी अभिव्यक्ति न मिली हो; और ऐसे विचार को कभी सोचा भी न गया हो।

160. शिशु बड़ों पर भरोसा करके सीखता है। संशय तो विश्वास के उपरांत आता है।

161. बहुत सी बातों को मैंने श्रुति-प्रमाण से ही सीखा और अपनाया और फिर अपने अनुभव से मैंने पाया कि कुछ बातों की पुष्टि हो सकती है और कुछ की नहीं।

162. पाठ्य-पुस्तकों, उदाहरणार्थ, भूगोल की पाठ्य-पुस्तकों, में पायी जाने वाली बातों को मैं सामान्यतः सच मानता हूँ। क्यों? मैं कहता हूँ : इन तथ्यों की अनेक बार पुष्टि की जा चुकी है। किन्तु मैं इसे कैसे जानता हूँ? मेरे पास इसका क्या प्रमाण है? मेरे पास संसार का एक चित्र है। क्या वह प्रामाणिक है या अप्रामाणिक? फिर भी वह मेरे सभी कथनों और मेरी समस्त जिज्ञासाओं का आधार है। इसका वर्णन करने वाली सभी प्रतिज्ञप्तियों की जाँच तो नहीं की जा सकती।

163. मेज़ की ओर किसी का ध्यान न होने पर भी क्या कभी किसी ने उसके अस्तित्व की जाँच की है?

हम नेपोलियन की कथाओं की जाँच तो करते हैं किन्तु उनके बारे में दी गई सूचनाओं की भ्रान्त धारणा, जालसाजी इत्यादि की जाँच नहीं करते। क्योंकि जाँच करते समय हम किसी न किसी ऐसी बात की पूर्वकल्पना कर लेते हैं जिसको हम जाँचते नहीं। तो क्या मैं कहूँ कि किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को जाँचने के लिए मैं जो प्रयोग करता हूँ वह प्रयोग इस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को मान कर चलता है कि जिन उपकरणों के बारे में मेरा विश्वास है कि मैं उनको देख रहा हूँ, उनका वास्तव में अस्तित्व है (इत्यादि)?

164. क्या जाँच-प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं होता?

165. एक शिशु दूसरे से कह सकता है : “मैं जानता हूँ कि पृथ्वी सैंकड़ों वर्ष पुरानी है” उसका अभिप्राय होगा : मैंने ऐसा सीखा है।

166. अपने विश्वास की आधारहीनता का अहसास करना कठिन है।

167. यह तो स्पष्ट है कि सभी आनुभविक प्रतिज्ञप्तियां एक जैसी नहीं होतीं क्योंकि कोई ऐसी प्रतिज्ञप्ति हो सकती है जिसे आनुभविक प्रतिज्ञप्ति से विवरण देने के प्रतिमान में बदला जा सके।

रासायनिक अनुसंधान पर विचार करें। लेवोइसियर अपनी अनुसंधानशाला में पदार्थ-प्रयोग द्वारा इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जलने पर अमुक प्रतिक्रिया होती है। वे यह नहीं कहते कि किसी अन्य समय पर इससे उलट भी हो सकता है। उनके मन में संसार का एक विशिष्ट चित्र है — यह चित्र उनकी खोज का परिणाम नहीं है : उन्होंने उस चित्र को शैशवावस्था से सीखा है। मैं यहाँ संसार के चित्र का उल्लेख कर रहा हूँ न कि प्राक्कल्पना का, क्योंकि यह उनके अनुसंधान का सहज आधार है और इसीलिए इसका उल्लेख भी नहीं होता।

<u>168.</u> किन्तु समान परिस्थितियों में पदार्थ **क**, पदार्थ **ख** से सदैव एक सी प्रतिक्रिया करता है, इस प्राक्कल्पना की अब क्या भूमिका है? या फिर, क्या यह पदार्थ की परिभाषा का ही अंग है?

<u>169.</u> रसायन-शास्त्र की संभावना को अभिव्यक्त करने वाली प्रतिज्ञप्तियों की कल्पना की जा सकती है। और वे प्राकृतिक-विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियां ही होंगी। क्योंकि अनुभव के सिवाय उनका क्या आधार होगा?

<u>170.</u> लोगों के विशेष लहजे में बात करने पर मुझे उन पर भरोसा होता है। इसी प्रकार मैं भौगोलिक, रासायनिक, ऐतिहासिक इत्यादि तथ्यों पर विश्वास करता हूँ। विज्ञान के विषय को भी मैं इसी प्रकार सीखता हूँ। सीखने का आधार तो विश्वास ही है।

यदि आपने यह सीखा है कि माँट पर्वत की ऊँचाई 4000 मीटर है, यदि आपने मानचित्र में इसे देखा है, तो आप कहते हैं कि आप इस बारे में जानते हैं।

तो क्या यह कहा जा सकता है : हम इसे विश्वसनीय मानते हैं क्योंकि इससे हमें लाभ हुआ है?

<u>171.</u> मूअर के कभी चाँद पर न जाने के विश्वास का मुख्य कारण यह है कि कोई भी व्यक्ति कभी चाँद पर नहीं गया, या कभी भी वहाँ नहीं पहुँचा। यह विश्वास हमारी शिक्षा पर आधारित है।

172. संभवत : कोई कहे कि "किसी बात को विश्वसनीय मानने का हमारा कोई मुख्य आधार तो होगा", किन्तु ऐसे आधार से क्या उपलब्धि होगी? क्या यह 'सत्य मानने' के प्राकृतिक नियम से बेहतर है?

173. किसी बात पर विश्वास या अटूट विश्वास क्या मेरे बस में है?

मेरा विश्वास है कि वहाँ एक कुर्सी पड़ी है? क्या मैं भूल नहीं कर सकता? किन्तु क्या मैं अपनी भूल स्वीकार कर सकता हूँ? या फिर क्या मैं अपने द्वारा भूल किये जाने के बारे में सोच भी सकता हूँ? — और क्या बाद का शिक्षण मेरे विश्वास को डिगा सकता है?! तो क्या मेरे विश्वास का कोई आधार है?

174. मैं पूरी निश्चितता के साथ कार्य करता हूँ। किन्तु यह मेरी अपनी निश्चितता है।

175. मैं किसी को कहता हूँ "मैं इसे जानता हूँ"; और ऐसा कहने का कोई औचित्य है। किन्तु मेरे विश्वास का कोई औचित्य नहीं होता।

176. कुछ स्थितियों में "मैं इसे जानता हूँ" कहने के बजाय "यह ऐसा ही है — इस पर विश्वास करो" कहा जा सकता है। कुछ स्थितियों में बेशक यह कहा जा सकता है "बहुत सालों पहले मैंने इसे सीखा था "; और कभी-कभी यह भी कहा जा सकता है : "मैं इस विषय में आश्वस्त हूँ।"

177. मैं जो जानता हूँ, उस पर विश्वास भी करता हूँ।

178. मूअर की "मैं जानता हूँ कि...." प्रतिज्ञप्ति के दोषपूर्ण प्रयोग का कारण यह है कि वे इसे "मैं वेदना-ग्रस्त हूँ" इस कथन के समान संशयरहित समझ लेते हैं। और क्योंकि "मैं इसे जानता हूँ" से "ऐसा ही है" निष्पन्न होता हैं, इसीलिए उस पर भी संशय नहीं किया जा सकता।

179. यह कहना ठीक है : "मेरा विश्वास है कि...." एक मनोगत सत्य है लेकिन; "मैं जानता हूँ कि...." मनोगत सत्य नहीं है।

180. या फिर “मेरा विश्वास है....” एक ‘अभिव्यक्ति’ है, किन्तु “मैं जानता हूँ कि....” कोई ‘अभिव्यक्ति’ नहीं है।

181. मान लीजिए कि मूअर “मैं जानता हूँ कि....” कहने के बजाय “मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि....” कहते।

182. इससे भी कच्ची बात तो यह है कि पृथ्वी अनादि है। किसी भी बालक को यह पूछने का अधिकार नहीं है कि पृथ्वी का अस्तित्व कब से है, क्योंकि सब कुछ तो उसी पर घटित होता है। यदि पृथ्वी नामक ग्रह का किसी समय — कल्पनातीत समय — उद्भव हुआ हो तो इसके उद्भव-काल को कल्पनातीत मानना होगा।

183. “यह सुनिश्चित है कि ऑस्ट्रलित्ज़ के युद्ध के बाद नेपोलियन....। तो यह भी सुनिश्चित ही है कि उस समय पृथ्वी का अस्तित्व था।”

184. “यह सुनिश्चित है कि एक सौ वर्ष पहले हम इस ग्रह पर किसी अन्य ग्रह से नहीं आए हैं।” यह ऐसी बातों जैसा ही सुनिश्चित है।

185. नेपोलियन के अस्तित्व के बारे में संशय करना भी मुझे हास्यास्पद लगता है; किन्तु यदि कोई पृथ्वी के 150 वर्ष पूर्व के अस्तित्व में शंका व्यक्त करे तो संभवतः मैं उसे गंभीरतापूर्वक सुनूँ क्योंकि ऐसा करना हमारी संपूर्ण प्रमाण-प्रणाली पर ही संशय करना है। मुझे नहीं लगता कि यह प्रणाली अपनी अन्तर्निहित सुनिश्चितता से कहीं अधिक सुनिश्चित है।

186. मैं यह मान सकता हूँ कि नेपोलियन का कभी अस्तित्व ही नहीं था यह एक कपोल-कल्पना है, किन्तु यह नहीं मान सकता कि 150 वर्ष पूर्व पृथ्वी का अस्तित्व ही न था।

187. “क्या आप जानते हैं कि तब भी पृथ्वी का अस्तित्व था?” — “बेशक, मैं जाता हूँ। मुझे यह जानकारी ऐसे व्यक्ति से मिली है जो इस बारे में पूरी तरह जानता है।”

188. मुझे लगता है कि उस समय पृथ्वी के अस्तित्व पर शंका करने वाला व्यक्ति संपूर्ण ऐतिहासिक प्रमाण को नकारता है। और मैं इस प्रमाण को पूर्णतः ठीक नहीं कह सकता।

189. कभी तो व्याख्या से वर्णन मात्र पर पहुँचना पड़ता है।

190. जिसे हम ऐतिहासिक साक्ष्य कहते हैं वह बतलाता है कि मेरे जन्म के बहुत पहले से ही पृथ्वी का अस्तित्व है; — विपरीत-कल्पना के समर्थन में कुछ भी नहीं है।

191. यदि सभी कुछ किसी प्राक्कल्पना के पक्ष में हो और विपक्ष में कुछ भी न कहा जाए — तो क्या वह निश्चित रूप से सत्य होती है? उसके बारे में ऐसा कहा जा सकता है। — किन्तु क्या वह निश्चित रूप से यथार्थ के, तथ्यों के अनुरूप होती है? — इस प्रश्न को पूछते ही आप एक चक्रव्यूह में फँस जाते हैं।

---

192. औचित्य सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु औचित्य की भी सीमा होती है।

193. इसका क्या अर्थ है : किसी प्रतिज्ञप्ति का सत्य होना तो सुनिश्चित है?

194. "सुनिश्चित" शब्द को कहने से हम पूर्ण विश्वास को, संशय के संपूर्ण अभाव को, अभिव्यक्त करते हैं और ऐसा करके हम अन्य व्यक्तियों को आश्वस्त करते हैं। यह मनोगत निश्चितता है।

किन्तु कोई भी बात वस्तुनिष्ठ रूप से कब सुनिश्चित होती है? जब कोई गलती करना संभव नहीं हो। पर यह किस प्रकार की संभावना है? क्या तर्कतः गलती की संभावना को ही समाप्त नहीं कर देना चाहिए?

195. अपने कमरे में न होने पर भी मेरा यह विश्वास करना कि मैं अपने कमरे में बैठा हूँ कोई भूल नहीं होती। किन्तु इसमें और गलती करने की स्थिति में क्या कोई तात्त्विक भेद है?

196. जिसे हम स्वीकार करते हैं वही निश्चित प्रमाण होता है, तथा उसी के कारण हम बिना किसी संशय के, सुनिश्चित रूप से, कार्य करते हैं।

जिसे हम "गलती" कहते हैं उसकी हमारे भाषा-खेल में नितान्त विशिष्ट भूमिका होती है, और यही बात उस पर भी लागू होती है जिसे हम निश्चित साक्ष्य मानते हैं।

197. यह कहना निरर्थक है कि किसी प्रमाण को निश्चित रूप से सत्य होने के कारण ही हम उसे सुनिश्चित साक्ष्य मानते हैं।

198. अच्छा तो यह हो कि किसी प्रतिज्ञप्ति के पक्ष अथवा विपक्ष में निर्णय लेने की भूमिका को ही हम पहले निर्धारित कर लें।

199. "सत्य अथवा असत्य" इस अभिव्यक्ति के प्रयोग में भ्रान्ति का कारण इसका "या तो यह तथ्यों के अनुरूप है या फिर नहीं है" जैसा कहना है, किन्तु यहाँ दुविधा तो "अनुरूप होने" के बारे में ही है।

200. "यह प्रतिज्ञप्ति या तो सत्य है या असत्य" कहने का वस्तुत : यही अर्थ है कि इसके पक्ष अथवा विपक्ष में निर्णय लेना संभव है। किन्तु इससे ऐसे निर्णय के आधार के बारे में कुछ भी पता नहीं चलता।

201. मान लीजिए कि कोई पूछे : "क्या हमारा अपनी याददाश्त (अथवा इन्द्रियों) के साक्ष्य पर निर्भर करना, जैसा कि हम करते हैं, वास्तव में उचित है?"

202. मूअर की सुनिश्चित प्रतिज्ञप्तियां तो लगभग यही कहती हैं कि हमें ऐसे साक्ष्यों पर भरोसा करने का अधिकार है।

203. [हमारे[2] सभी साक्ष्य दर्शाते हैं कि मेरे जन्म के अनेक वर्षों पूर्व से पृथ्वी का अस्तित्व है। इसके विपरीत प्राक्कल्पना के पक्ष में कुछ भी नहीं है।

जब सभी बातें किसी प्राक्कल्पना के पक्ष में हों और उसके विपक्ष में कुछ भी नहीं कहा जाता तो क्या वह वस्तुतः सुनिश्चित होती है? ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु क्या यह अनिवार्यतः तथ्यों के संसार के अनुरूप होता है? इससे हमें अधिकाधिक “अनुरूपता” के अर्थ का पता चलता है। उसके असत्य होने की कल्पना हमें दुरूह लगती है, और उसको प्रयोग में लाना भी कठिन लगता है।]

यह अनुरूपता इन भाषा खेलों में हमारी प्रतिज्ञप्ति के पक्ष में दिए गए साक्ष्य के अलावा और किसमें निहित है? (ट्रैक्टेटस लॉजिको फ़िलॉसॉफ़िक्स)

204. वस्तुत : साक्ष्य के औचित्य देने की एक सीमा होती है; — किन्तु इस सीमा का प्रतिफलन उन सुनिश्चित वाक्यों में नहीं होता जो हमें अपरोक्ष रूप से सत्य जान पड़ते हैं, यानी, यह हमारे लिए कोई सोचने-समझने की बात नहीं है; यह तो ऐसे व्यवहार की बात है जो भाषा-खेल का आधार है।

205. यदि सत्य का कोई आधार होता है तो वह आधार न तो सत्य होता है न असत्य।

206. किसी के यह पूछने पर कि “क्या यह सत्य है?” हम उसे “हाँ” में उत्तर दे सकते हैं; और यदि वह हमें इस कथन के आधार के बारे में पूछे तो हम यह कह सकते हैं, “मैं आपको इस कथन का कोई आधार तो नहीं बता सकता किन्तु बहुश्रुत होने पर आप भी ऐसा ही सोचते”।

यदि ऐसा न हो तो उसका अर्थ होगा कि वह, इतिहास को, उदाहरणार्थ, नहीं सीख पाएगा।

207. “विचित्र संयोग है कि जिस किसी की भी खोपड़ी खोली गई उसमें मस्तिष्क पाया गया!”

208. मैं न्यूयॉर्क में किसी से टेलीफोन पर बात करता हूँ। मेरा मित्र मुझे बताता है कि उसके घर में लगे पौधों पर अमुक प्रकार की कलियाँ खिली हैं। मैं विवरण सुन-कर आश्वस्त हो जाता हूँ कि उन पौधों का.... नाम है। क्या मैं पृथ्वी के अस्तित्व के बारे में भी आश्वस्त हो जाता हूँ?

209. पृथ्वी का अस्तित्व है, यह उस पूरे चित्र का एक अंश है, जो मेरे विश्वास के आरम्भिक बिन्दु का निर्माण करता है।

210. क्या न्यूयॉर्क की मेरी टेलीफोन वार्ता से, पृथ्वी के अस्तित्व से सम्बन्धित मेरा विश्वास और दृढ़ होता है?

काफी कुछ तो स्थिर है और उसमें कोई बदलाव नहीं आता। मानो उसे चालू पटरी से उतारकर बेकार पटरी पर ढकेल दिया गया हो।

211. तो, इससे हमारे परिप्रेक्ष्य को, और हमारी खोज को एक रूप मिलता हैं। संभवत : कभी वे विवादास्पद रहे हों। किन्तु सम्भवतः अचिन्त्य समय से वे हमारे विचारों के आधार से सम्बन्धित रहे हैं। (हर मनुष्य के माता-पिता होते हैं।)

212. उदाहरणार्थ, किन्हीं परिस्थितियों में हम किसी परिकलन को यथेष्ट रूप में जाँचा-परखा मान लेते हैं। यह अधिकार कहाँ से मिलता है? अनुभव से? क्या वह हमें कभी धोखा नहीं दे सकता? औचित्य की कोई सीमा तो होती है, और उस स्थिति में यही बात बची रहती है कि हम ऐसे ही परिकलन करते हैं।

213. हमारी "आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ" समरूप नहीं होतीं।

214. ऐसी कल्पना से मुझे कौन रोक सकता है कि किसी के न देखने पर मेज़ लुप्त हो जाती है या फिर उसका रंग-रूप बदल जाता है और फिर जब इसे देखा जाता है तो वह अपने पुराने स्वरूप में लौट आती है। हमारा उत्तर होगा : "किन्तु ऐसी कल्पना करेगा ही कौन!"

215. इससे हमें पता चलता है कि 'यथार्थ के अनुरूप' होने के विचार का कोई स्पष्ट व्यावहारिक प्रयोग नहीं है।

216. यह वाक्य "यह लिखित है"।

217. यदि कोई (यह कहते हुए कि भूल तो सदा हो सकती है) मानता है कि हमारे सभी परिकलन अनिश्चित हैं और हम उन में से किसी पर विश्वास भी नहीं कर सकते तब हम उस व्यक्ति को कदाचित् सनकी कहेंगे। किन्तु क्या हम उसे गलत भी कह सकते हैं? क्या उसकी सोच हमसे भिन्न नहीं है? हम परिकलनों पर भरोसा करते हैं, वह भरोसा नहीं करता; हम आश्वस्त हैं, वह नहीं है।

218. क्या मैं क्षण भर के लिए भी यह मान सकता हूँ कि मैं स्ट्रैटोस्फीयर (समताप-मण्डल) में रहा हूँ? नहीं। तो क्या मूअर की तरह मैं इससे उलट जान सकता हूँ?

219. समझदार व्यक्ति के समान मुझे इसके बारे में कोई संशय नहीं है। — बस यही तो। —

220. समझदार व्यक्ति कुछ बातों पर संशय नहीं करता।

221. क्या मैं इच्छानुसार संशय कर सकता हूँ?

222. संभवत : मैं स्ट्रैटोस्फीयर (समताप-मण्डल) में कभी न होने के बारे में संशय नहीं कर सकता। क्या इससे मैं यह जानता हूँ? क्या इससे यह सच हो जायेगा?

223. कहीं ऐसा तो नहीं कि मैं सनकी हूँ और संशय-योग्य बातों पर भी संशय नहीं कर रहा?

224. "मैं जानता हूँ कि ऐसा कभी नहीं हुआ, यदि ऐसा हुआ होता तो मैं उसे कभी भुला नहीं पाता।"

पर मान लीजिए कि ऐसा हुआ हो, तब तो आप उसे भूल ही गए। और आप कैसे हैं आप उसे भुला ही नहीं पाते? क्या आप ऐसा अपने पूर्व-अनुभव से नहीं जानते?

225. मैं किसी एक प्रतिज्ञप्ति की बजाय प्रतिज्ञप्तियों के समुच्चय को विश्वसनीय मानता हूँ।

226. मैं कभी चाँद पर गया था इस प्राक्कल्पना पर क्या मैं कभी भी गंभीरतापूर्वक विचार कर सकता हूँ?

227. “क्या यह ऐसी बात है जिसे भुलाया जा सकता हो?!”

228. “ऐसी परिस्थितियों में लोग ‘संभवत : हम भूल गए’ जैसी बातें न कहकर यह मानते हैं कि....”।

229. हमारे संपूर्ण व्यवहार से ही हमारी बातों का अर्थ प्राप्त होता है।

230. हम अपने आप से पूछते हैं : “मैं जानता हूँ कि....” कथन का हम क्या करें? क्योंकि यह प्रश्न मानसिक क्रिया या मानसिक दशा के बारे में नहीं है।

और इसी प्रकार यह निर्णय लिया जाना चाहिए कि हमें कुछ ज्ञात है या नहीं।

231. पृथ्वी के सौ साल पूर्व के अस्तित्व के विषय में संशय करने वाले व्यक्ति को न समझ पाने का कारण यह है : मुझे ऐसे व्यक्ति की प्रमाण-प्रणाली का ही पता नहीं होता।

232. “हम इन तथ्यों में किसी पर भी संशय कर सकते हैं किन्तु इन सभी पर संशय नहीं कर सकते।”

क्या यह कहना अधिक उचित नहीं होगा : “हम उन सब पर संशय नहीं करते”।

उन सब पर संशय न करना हमारे निर्णय लेने, और इसीलिए हमारे व्यवहार का ढंग है।

233. यदि कोई शिशु मुझसे पूछे कि क्या पृथ्वी का अस्तित्व मेरे जन्म से पूर्व था, तो मुझे उसे बताना चाहिए कि पृथ्वी का उद्भव मेरे जन्म से ही नहीं अपितु उसका अस्तित्व तो मेरे जन्म से भी बहुत-बहुत पहले से है। यह कहते हुए मुझे विचित्र लगेगा। मानो शिशु ने यह पूछा हो कि क्या यह पर्वत उसके देखे हुए उच्च भवन से भी ऊँचा है। प्रश्नकर्ता को मैं जगत् का एक चित्र प्रस्तुत करते हुए उत्तर देता हूँ।

मेरे निश्चयात्मक ढंग से उत्तर देने पर मेरी निश्चयात्मकता का क्या आधार होता है?

<u>**234.**</u> मेरा विश्वास है कि मेरे और अन्य सभी व्यक्तियों के भी पूर्वज हैं। साधारणतः भूगोल और इतिहास की मुख्य बातों और अनेक शहरों के अस्तित्व पर मेरा विश्वास है। मेरा विश्वास है कि पृथ्वी एक पिण्ड है जिसकी सतह पर हम चलते हैं; और किसी भी अन्य ठोस पदार्थ जैसे कि इस मेज़, इस वृक्ष इत्यादि की भाँति यह यकायक लुप्त इत्यादि नहीं होती। यदि मैं अपने जन्म से बहुत पहले से पृथ्वी के अस्तित्व पर संशय करता हूँ तो मुझे ऐसी अनेक बातों पर भी संशय करना होगा जिन्हें मैं सुनिश्चित मानता हूँ।

<u>**235.**</u> मेरी सुनिश्चित बातों का आधार मेरी मूर्खता, या मेरा भोलापन नहीं है।

<u>**236.**</u> जब कोई कहता है "पृथ्वी का अस्तित्व बहुत पहले से नहीं है...." तो उसका संदेह किस पर है? क्या मैं जानता हूँ?

क्या इसे वैज्ञानिक मत कहेंगे? कहीं यह कोई रहस्यमय बात तो नहीं है? क्या उसे ऐतिहासिक, या फिर भौगोलिक तथ्यों को नकारने की जरूरत है?

<u>**237.**</u> जब मैं कहता हूँ कि "एक घंटे पहले यह मेज़ नहीं थी" तो मेरा यह तात्पर्य होता है कि संभवत : यह बाद में निर्मित हुई हो।

जब मैं कहता हूँ कि "पहले यहाँ यह पर्वत नहीं था" तो संभवतः मेरा तात्पर्य होता है कि वह बाद में — शायद किसी ज्वालामुखी के द्वारा अस्तित्व में आया है।

जब मैं कहता हूँ कि "आधा घंटा पहले यह पर्वत नहीं था" तो इस अटपटे कथन से पता ही नहीं चलता कि मेरा तात्पर्य क्या है। उदाहरणार्थ कहीं मैं कोई असत्य किन्तु वैज्ञानिक बात तो नहीं कर रहा। संभवतः आपको लगे कि 'यह पर्वत तब तो नहीं था' कथन सुस्पष्ट है, हालाँकि आपको इसके संदर्भ की कल्पना करनी पड़ती है। किन्तु कल्पना कीजिए कि कोई कहे "क्षण भर पहले यह पर्वत नहीं था अपितु उस समय बिल्कुल ऐसा ही पर्वत मौजूद था"। सुपरिचित संदर्भ से ही तात्पर्य का पता चलेगा।

238. मेरे जन्म से पूर्व पृथ्वी का अस्तित्व नहीं था ऐसा कहने वाले व्यक्ति की कौनसी धारणाएं मेरी धारणाओं से मेल नहीं खातीं यह जानने के लिए मुझे उससे पूछताछ करनी पड़ेगी। हो सकता है कि इस जानकारी के बाद मुझे पता चले कि वह मेरी आधारभूत मान्यताओं का ही विरोध कर रहा है। ऐसी स्थिति में मेरे पास उसके मत को स्वीकार करने के अलावा कोई विकल्प ही नहीं होगा।

इसी प्रकार मुझे उसके चाँद पर जाने के कथन को भी स्वीकार करना होगा।

239. मेरी मान्यता है कि प्रत्येक मानव के माता-पिता मानव हैं; किन्तु कैथोलिकों की मान्यता है कि केवल यीशु की माता ही मानव थी। कुछ लोग साक्ष्यों की परवाह किए बिना यह मान सकते हैं कि ऐसे मनुष्य भी होते हैं जिनके माता-पिता का अस्तित्व ही नहीं है। कैथोलिकों की यह भी मान्यता है कि समस्त प्रतिकूल साक्ष्यों के बावजूद रोटी अपने स्वरूप को पूर्णत : बदल देती है। यानी यदि मूअर कहें : “मैं जानता हूँ कि यह रक्त न होकर शराब है” तो कैथोलिक उनका खण्डन करेंगे।

240. इस विश्वास का क्या आधार है कि सभी मनुष्यों के माता-पिता होते हैं? अनुभव के आधार पर। लेकिन मैं इस पूर्ण विश्वास को अनुभव का आधार कैसे बना सकता हूँ? इसका आधार केवल यह तथ्य नहीं है कि मैं कुछ लोगों के माता-पिता को जानता हूँ, अपितु यह तो मनुष्यों के दाम्पत्य जीवन, उनकी शरीर रचना, शारीरिक वृत्ति के बारे में मेरे ज्ञान और पशुओं के बारे में मेरी देखी-सुनी बातों पर आधारित है। किन्तु क्या यह कोई प्रमाण है?

241. क्या यह एक ऐसी प्राक्कल्पना नहीं है जिस पर मै विश्वास करता हूँ और जिसकी बार-बार पूरी पुष्टि होती रहती है?

242. क्या हमें हर बार यह नहीं कहना चाहिए : “मैं इस पर निश्चित रूप से विश्वास करता हूँ”?

243. समुचित आधार होने पर हम कहते हैं कि “मैं जानता हूँ”। “मैं जानता हूँ” का सम्बन्ध सत्य को प्रदर्शित करने की सम्भावना से है। कायल होने पर ही किसी की जानकारी का ज्ञान होता है।

किन्तु, यदि उसका विश्वास ही ऐसा है जिसके लिए वह केवल अपने कथन का ही साक्ष्य दे सकता है तो वह यह नहीं कह सकता कि वह अपने विश्वास को जानता है।

244. जब कोई कहता है “मेरा शरीर है” तो उससे पूछा जा सकता है “यहाँ इस मुँह से कौन बोल रहा है?”

245. कोई किसे कहता है कि वह कुछ जानता है? अपने आप को या किसी और को। यदि हम अपने आप को यह बताते हैं तो हम वस्तुस्थिति के बारे में सुनिश्चित हैं, इस कथन से उसका भेद कैसे होगा? मैं किसी बात को जानता हूँ, इसके बारे में कोई मनोगत निश्चितता नहीं होती। आश्वासन मनोगत होता है किन्तु ज्ञान मनोगत नहीं होता। अतः जब मैं कहता हूँ “मैं जानता हूँ कि मेरे दो हाथ हैं” और ऐसा कहते समय अपनी मनोगत निश्चितता को अभिव्यक्त नहीं करता, तब अपने कथन का औचित्य सिद्ध करना होगा। किन्तु मैं ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि अपने दो हाथों के अस्तित्व के बारे में मैं उन्हें देखने से पहले, या देखने के बाद बराबर सुनिश्चित होता हूँ। किन्तु मैं कह सकता हूँ : “मेरा अटूट विश्वास है कि मेरे दो हाथ हैं।” इससे यह पता चलता है कि मैं इस प्रतिज्ञप्ति के विरुद्ध किसी भी बात को प्रमाण नहीं मानता।

246. “अब मैं अपने समस्त विश्वासों के मूल पर पहुँच गया हूँ।” “मैं इस स्थिति पर दृढ़ रहूँगा!” किन्तु मेरा दृढ़ रहना क्या केवल इसलिए नहीं है कि मैं इसका कायल हूँ। — ‘पूरी तरह कायल होना’ क्या होता है?

247. अभी अपने दोनों हाथों के अस्तित्व पर संशय करना कैसा होगा? मैं इसकी कल्पना भी क्यों नहीं कर सकता? यदि मैं अपने हाथों के अस्तित्व में विश्वास नहीं करूँ तो मैं किस बात पर विश्वास कर सकता हूँ? अब तक मेरे पास ऐसी कोई प्रणाली नहीं है जिसमें ऐसे संशय को अवकाश मिले।

248. मैं अपने सुनिश्चित विश्वासों के मूल पर पहुँच गया हूँ।

और यह भी कहा जा सकता है कि पूरा घर नींव की दीवारों को ढो रहा है।

249. हम संशय की झूठी तस्वीर गढ़ते हैं।

250. सामान्य स्थितियों में मैं इस बात के पक्ष में दिए जा सकने वाले प्रमाण जितना ही आश्वस्त रहता हूँ, कि मेरे दो हाथ हैं।

इसी कारण मेरा हस्त-दर्शन मेरे हाथों के अस्तित्व का साक्ष्य नहीं माना जा सकता।

251. क्या इसका यह अभिप्राय नहीं है : मैं सहज रूप से अपने इस विश्वास के अनुरूप कार्य करता रहूँगा और किसी बात से अपने को भ्रमित नहीं होने दूँगा।

252. केवल मैं ही अपने दोनों हाथों के अस्तित्व को इस तरह नहीं मानता अपितु सभी समझदार व्यक्ति ऐसा मानते हैं।

253. सुदृढ़ विश्वास के मूल में निर्मूल विश्वास होता है।

254. हर 'समझदार' व्यक्ति इसी तरह व्यवहार करता है।

255. संशय करने की कुछ विशेषताएं होती हैं, परन्तु ये विशेषताएं केवल विशिष्ट परिस्थितियों में ही होती हैं। यदि कोई कहे कि उसे हाथों के अस्तित्व पर संशय है, पर उन्हें चारों ओर से निहारता रहे, और अपने-आपको भरोसा दिलाता रहे कि यह सब 'शीशे की करामात' तो नहीं है, तो भी क्या उसके संशय को निश्चित रूप से संशय कहा जा सकता है। हम तो यही कह सकते हैं कि वह संशयात्मा की तरह व्यवहार कर रहा है, किन्तु उसका खेल हमसे भिन्न है।

256. दूसरी ओर समय के साथ-साथ भाषा-खेल परिवर्तित होता रहता है।

257. यदि कोई मुझे कहे कि उसे अपनी देह के अस्तित्व पर संशय है तो मैं उसे अर्ध-विक्षिप्त समझूँगा। किन्तु मैं यह नहीं जानता कि उसे देह के अस्तित्व के बारे में कैसे आश्वस्त किया जा सकता है। और यदि मेरे कुछ कहने से उसका संशय दूर हो जाये तो भी मैं नहीं जान पाऊँगा कि ऐसा क्यों और कैसे हुआ।

<u>258.</u> मुझे नहीं पता कि "मैं जानता हूँ कि मेरी देह है" इस वाक्य का प्रयोग कैसे होगा।

किन्तु यह बात सहज रूप से इस प्रतिज्ञप्ति पर लागू नहीं होती कि मैं सदैव पृथ्वी की सतह पर या उसके समीप ही रहा हूँ।

<u>259.</u> सौ वर्ष पूर्व पृथ्वी के अस्तित्व के बारे में शंका करने वाले व्यक्ति का संशय या तो वैज्ञानिक है, या फिर दार्शनिक।

<u>260.</u> "मैं जानता हूँ" अभिव्यक्ति को मैं साधारण बोलचाल की भाषा में प्रयोग तक ही सीमित रखना चाहूँगा।

<u>261.</u> फिलहाल, मैं पृथ्वी के सौ वर्ष पूर्व के अस्तित्व विषयक किसी तार्किक संशय की कल्पना भी नहीं कर सकता।

<u>262.</u> मैं ऐसे व्यक्ति के अस्तित्व की कल्पना कर सकता हूँ जिसका लालन-पालन विशिष्ट परिस्थितियों में किया गया हो और जिसे यह सिखाया गया हो कि पृथ्वी पचास वर्ष पहले ही अस्तित्व में आई है और इसीलिए वह इस पर विश्वास करता हो। हम उसे बता सकते हैं : पृथ्वी तो बहुत पहले.... इत्यादि। — तब हम उसे अपने संसार विषयक चित्र का वर्णन देते हैं।

समझा-बुझा कर ऐसा किया जा सकेगा।

<u>263.</u> विद्यार्थी अपने अध्यापकों और अपनी पाठ्य-पुस्तकों पर विश्वास करता है।

<u>264.</u> मैं जंगली लोगों द्वारा मूअर के पकड़े जाने, और मूअर को धरती और चाँद के बीच के किसी देश के निवासी मानने की कल्पना कर सकता हूँ। मूअर उन्हें बताते हैं कि वे जानते हैं इत्यादि, किन्तु अपने निश्चित होने का कोई आधार नहीं दे पाते क्योंकि जंगली लोग भौतिक शास्त्र से अनभिज्ञ हैं, और उनकी अजीब मान्यता है कि मनुष्य उड़ सकते हैं। ऐसे मौके पर वह कथन कहा जा सकता है।

<u>265.</u> किन्तु यह तो इतना ही कहना है कि “मैं कभी भी अमुक स्थान पर नहीं गया और इस पर विश्वास करने के लिए मेरे पास प्रबल आधार हैं”?

<u>266.</u> पर अभी भी हमें बताना होगा कि प्रबल आधार क्या होते हैं?

<u>267.</u> “मुझे पेड़ का चाक्षुष-प्रत्यक्ष मात्र नहीं होता : मैं जानता हूँ कि यह पेड़ है।”

<u>268.</u> “मैं जानता हूँ कि यह एक हाथ है।” — पर हाथ किसे कहते हैं? “उदाहरणार्थ, इसे।”

<u>269.</u> क्या चाँद पर अपने कभी भी न जाने के बारे में मैं उतना ही आश्वस्त हूँ जितना कि अपने बलगारिया न जाने के बारे में। मैं इतना आश्वस्त क्यों हूँ? क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं कभी भी उसके आस-पास के क्षेत्र — उदाहरणार्थ, बाल्कन्स में भी कभी नहीं गया।

<u>270.</u> “अपनी निश्चितता के मेरे पास सशक्त आधार हैं।” इन्हीं आधारों के कारण निश्चितता वस्तुनिष्ठ होती है।

<u>271.</u> किसी चीज के लिए सशक्त आधार क्या है, इसका निर्णय मैं नहीं करता।

<u>272.</u> मैं जानता हूँ = इससे मैं निश्चित रूप से परिचित हूँ।

<u>273.</u> किन्तु किसी बात को सुनिश्चित कब कहते हैं?

किसी बात की सुनिश्चितता के बारे में विवाद हो सकते हैं; ऐसा कहने से मेरा अभिप्राय है जब वह वस्तुनिष्ठ रूप से सुनिश्चित हो।

हम अनगिनत साधारण आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को सुनिश्चित मानते हैं।

<u>274.</u> ऐसी ही एक बात यह है कि कटी बाँह दुबारा नहीं पनप सकती। एक अन्य ऐसी बात यह है कि सिर कटने पर व्यक्ति मर जाता है और फिर कभी जिंदा नहीं हो सकता।

अनुभव से हम इन बातों को सीखते हैं। पर अनुभव हमें इन्हें एक-एक करके नहीं सिखाता अपितु वह तो हमें अन्योन्याश्रित अनेक बातों को एक साथ सिखाता है। उन्हें अलग-अलग होने पर मैं उन पर संदेह कर सकता हूँ क्योंकि मुझे उनका कोई अनुभव नहीं होता।

275. यदि अनुभव हमारी सुनिश्चितता का आधार है तो स्वाभाविक रूप से वह विगत अनुभव ही होगा।

और मैं न केवल अपने अनुभव, बल्कि दूसरों के अनुभवों से भी ज्ञान प्राप्त करता हूँ।

अब यह कहा जा सकता है कि अनुभव ही हमें दूसरों पर विश्वास करना सिखाता है। मेरे इस विश्वास का क्या आधार है कि शरीर रचना और शरीर-विज्ञान संबंधी पुस्तकों में अयथार्थ प्रतिपादन नहीं होता? यद्यपि यह तो सच ही है कि मेरे इस विश्वास का आधार मेरा अपना अनुभव ही है।

276. इस विशाल भवन के अस्तित्व पर विश्वास करने के बाद ही हम इसके इस या उस कोने को देखते हैं।

277. "…. पर विश्वास करने के लिए मैं बाध्य हूँ।"

278. "वस्तुस्थिति से मैं संतुष्ट हूँ।"

279. यह तो निश्चित ही है कि मोटर कार जमीन से पैदा नहीं होती। हमें लगता है कि इससे उलट विश्वास रखने वाला व्यक्ति हमारी प्रत्येक असत्य बात पर विश्वास कर लेगा, और सुनिश्चित बातों पर शंका प्रकट करेगा।

किन्तु किसी एक विश्वास का बाकी विश्वासों से क्या सम्बन्ध है? हम कह सकते हैं कि उस पर विश्वास करने वाला व्यक्ति हमारी संपूर्ण जाँच प्रणाली को नहीं मानता।

मनुष्य इस प्रणाली को प्रशिक्षण और निरीक्षण द्वारा प्राप्त करता है। "सीखना" मैं जान बूझकर नहीं कह रहा।

280. इसको देखने और उसको सुनने के बाद वह.... पर शंका करने की स्थिति में नहीं रह जाता।

281. मैं, लु. वि. विश्वास करता हूँ, मुझे पक्का भरोसा है, कि मेरे मित्र के शरीर में या फिर उसके मस्तिष्क में भूसा नहीं भरा है यद्यपि इससे उलट के बारे में मेरे पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। जो कुछ भी मुझे बताया गया है, जो कुछ भी मैंने पढ़ा है उसके और अपने अनुभवों के कारण ही मैं निश्चिन्त हूँ। इस पर शंका करना मुझे पागलपन लगता है — बेशक यह दूसरों के मत से भी मेल खाता है; किन्तु मैं उनसे सहमत हूँ।

282. बिल्लियों के पेड़ों से पैदा न होने, या फिर अपने माता-पिता के अस्तित्व के बारे में अपने विश्वास का मेरा कोई ठोस आधार नहीं है।

कोई उस पर शंका कैसे कर पाता है? आरंभ से ही अपने माता-पिता के अस्तित्व पर विश्वास न करके? तो क्या बिना सिखाये इसकी कल्पना की जा सकती है?

283. जो उसे सिखाया जाता है, उस पर कोई शिशु तुरंत शंका कैसे कर सकता है? इसका तो यही अभिप्राय है कि वह कुछ भाषा-खेलों को सीखने में असमर्थ है।

284. चिरकाल से मनुष्य पशुओं का शिकार करके उनकी खालों, हड्डियों आदि का अनेक प्रकार से उपयोग करते रहे हैं। समान पशुओं की समान संरचना की वे कल्पना करते हैं।

उन्होंने हमेशा अनुभव से सीखा है; और उनके आचरण से हम यह जान सकते हैं कि वे कुछ बातों पर निश्चित रूप से विश्वास करते हैं, चाहे वे इसे अभिव्यक्त करें, या न करें। ऐसा कहने से मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्यों को इस प्रकार विश्वास करना चाहिए अपितु मैं तो केवल यह कह रहा हूँ कि मनुष्य ऐसे आचरण करते हैं।

285. जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को किसी विशिष्ट स्थान पर खोजता है तो इससे पता चलता है कि उसे उस वस्तु के विशिष्ट स्थान के आस-पास होने का भरोसा है।

286. हमारे विश्वास का आधार वह है जो हम सीखते हैं। हमारा विश्वास है कि चाँद पर जाना संभव नहीं है; किन्तु ऐसे लोग भी हो सकते हैं जिनका विश्वास है कि चाँद पर जाया जा सकता है और कभी-कभी ऐसा होता भी है : हम कहते हैं इन लोगों को ऐसी कई बातों का ज्ञान नहीं है जिनका ज्ञान हमें है। और उन्हें अपने विश्वास पर इतना भरोसा नहीं होना चाहिए — वे त्रुटि पर हैं और हम यह जानते हैं।

और उनकी ज्ञान-प्रणाली के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि उनकी ज्ञान-प्रणाली हमसे कहीं निम्न स्तर की है।

23.9.50

287. गिलहरी आगमनात्मक विधि से यह नहीं जानती कि उसे आगामी सर्दियों में भी खाने-पीने की आवश्यकता पड़ेगी। न ही हमें अपनी भविष्यवाणियों और सक्रियता के औचित्य के लिए आगमनात्मक नियमों की आवश्यकता होती है।

288. मैं केवल यही नहीं जानता कि पृथ्वी का अस्तित्व मेरे जन्म से बहुत पहले से ही है, अपितु मैं यह भी जानता हूँ और इसे सिद्ध भी किया जा चुका है कि पृथ्वी विशाल है, और इसके साथ ही यह भी सिद्ध है कि मेरे और अन्य लोगों के पूर्वज हैं। इस सम्बन्ध में अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं और ये पुस्तकें झूठ नहीं हो सकतीं, इत्यादि, इत्यादि। मैं यह सब जानता हूँ? मैं इस पर विश्वास करता हूँ। यह ज्ञान-प्रणाली मुझे विरासत में मिली है। इस पर शंका करने का कोई आधार नहीं है, बल्कि इसकी पुष्टि के अनेक आधार हैं।

मैं क्यों न कहूँ कि मैं इन सब बातों को जानता हूँ? क्या हम यही नहीं कहते?

किन्तु इन बातों को केवल मैं ही नहीं जानता या इन पर मैं ही विश्वास नहीं करता अपितु सभी अन्य लोग भी इन्हें जानते हैं या इन पर विश्वास करते हैं। यहाँ तक कि मेरा विश्वास है कि वे इन पर विश्वास करते हैं।

289. मैं पूर्णतः आश्वस्त हूँ कि अन्य लोगों का विश्वास है, कि वे जानते हैं, कि वस्तुस्थिति ऐसी ही है।

290. मैंने स्वयं अपनी पुस्तक में लिखा था कि बच्चे अमुक-अमुक ढंग से किसी शब्द को समझते हैं। क्या मैं यह जानता हूँ या फिर यह मेरा विश्वास ही है? ऐसी परिस्थिति में मैं "मेरा विश्वास इत्यादि है" ऐसा लिखने के बजाय निर्देशात्मक वाक्य ही क्यों नहीं लिखता?

291. हम जानते हैं कि पृथ्वी गोल है। हमने भली-भांति पता लगा लिया है कि वह गोल हैं।

अपनी इस मान्यता पर हम तब तक टिके रहेंगे जब तक प्रकृति को समझने का हमारा दृष्टिकोण पूर्णत : बदल नहीं जाता। "आप यह कैसे जानते हैं?" — यह मेरा विश्वास है।

292. भावी-प्रयोग हमारे पूर्व-प्रयोगों को झुठला नहीं सकते, अधिकाधिक वे हमारी समझ के तौर-तरीकों में परिवर्तन ला सकते हैं।

293. "पानी 100° से. पर उबलता है" वाक्य के साथ भी यही होता है।

294. हमारी धारणाएँ ऐसे ही बनती हैं, इसे ही "कायल होना" कहते हैं।

295. तो क्या, एक अर्थ में, यही हमारी प्रतिज्ञप्ति का प्रमाण नहीं होता? पुनरावृत्ति कोई प्रमाण नहीं होती, यद्यपि पुनरावृत्ति से हमें किसी बात को मानने का प्रमाण मिल जाता है।

296. इसे ही हम अपनी मान्यताओं का "आनुभविक आधार" कहते हैं।

297. क्योंकि हम केवल यही नहीं सीखते कि अमुक प्रयोगों के अमुक परिणाम हैं, अपितु उसके निहितार्थ को भी सीखते हैं। और इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि यह निहितार्थ विशिष्ट प्रयोग का साधन होता है।

298. 'हम आश्वस्त हैं' का अभिप्राय यह नहीं होता कि प्रत्येक व्यक्ति आश्वस्त है अपितु इसका अर्थ होता है कि हम विज्ञान और शिक्षा के दायरे में रहने वाले एक समुदाय के सदस्य हैं।

299. हम आश्वस्त हैं कि पृथ्वी गोल है।

10.3.51

300. हमारे विचारों के सभी संशोधनों का स्तर एक जैसा नहीं होता।

301. मान लीजिए कि यह सत्य न होता कि पृथ्वी का अस्तित्व मेरे जन्म से बहुत पहले से है — तो इस भूल का हमें पता भी कैसे चलता?

302. यह कहने से कोई लाभ नहीं होगा कि "संभवतः हम भूल कर रहे हैं" क्योंकि, किसी अन्य प्रमाण के विश्वसनीय न होने पर, वर्तमान प्रमाण का भी औचित्य नहीं रहता।

303. यदि हम परिकलन में सर्वदा भूल करते हों, उदाहरणार्थ बारह गुणा बारह का परिकलन हम एक सौ चवालीस नहीं करते तो, हम किसी भी परिकलन पर विश्वास क्यों करें? बेशक यह मिथ्या अभिव्यक्ति है।

304. किन्तु अभी तो मैं बारह गुणा बारह के एक सौ चवालीस परिकलन के बारे में भूल नहीं कर रहा। कुछ समय बाद मैं कह सकता हूँ कि अभी तो मैं चकरा गया था किन्तु यह नहीं कह सकता कि मैं भूल कर रहा था।

305. यहाँ भी एक ऐसे चरण की आवश्यकता है जैसा कि सापेक्षता सिद्धान्त में लेना पड़ता है।

306. “मैं नहीं जानता कि यह हाथ है।” किन्तु क्या आप “हाथ” शब्द का अर्थ जानते हैं? यह न कहें “मैं जानता हूँ कि अब मेरे लिए इसका क्या अर्थ है।” और क्या यह आनुभविक तथ्य नहीं है कि — यह शब्द इस प्रकार प्रयुक्त होता है?

307. विचित्र बात यह है कि जब मैं शब्द-प्रयोग के बारे में पूर्णतः आश्वस्त रहता हूँ, कोई शंका नहीं रखता, तो भी मैं अपने शब्द-प्रयोग का कोई आधार नहीं दे पाता। प्रयास करने पर मैं हजारों आधार दे सकता हूँ किन्तु उनमें से कोई भी उस विषयवस्तु जितने सुनिश्चित नहीं होंगे जिसके वे आधार हैं।

308. ‘ज्ञान’ और ‘निश्चितता’ भिन्न कोटियों के विषय हैं। वे ‘अनुमान’ और ‘आश्वासन’ जैसी दो भिन्न ‘मानसिक अवस्थाएँ’ नहीं होतीं। (यहाँ मेरी मान्यता है कि “मैं जानता हूँ कि ‘संशय’ शब्द का (उदाहरणार्थ) क्या अर्थ है” और इस वाक्य से पता चलता है कि ‘ संशय’ शब्द की कोई तार्किक भूमिका होती है।) अभी तो हमारी रुचि निश्चितता में न होकर ज्ञान में है। यानी, हमारी रुचि इस तथ्य में है कि निर्णय को संभव बनाने के लिए कुछ आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को संशय-रहित मानना ही पड़ेगा। या फिर : मेरी यह मान्यता है कि आनुभविक प्रतिज्ञप्ति के आकार वाली प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति आनुभविक प्रतिज्ञप्ति नहीं होती|

309. कहीं ऐसा तो नहीं कि नियम और आनुभविक प्रतिज्ञप्ति मिल कर एक हो गये हों?

310. एक विद्यार्थी और एक अध्यापक। शिष्य किसी भी बात की व्याख्या नहीं करने देता क्योंकि वह निरंतर शब्दों के अर्थ, वस्तुओं के अस्तित्व के बारे में संशय करता है और टोकता जाता है। अध्यापक कहता है “टोको मत और मेरे कहे अनुसार कार्य करो। इस समय तुम्हारे संशयों का कोई अर्थ ही नहीं है।”

311. और कल्पना कीजिए कि विद्यार्थी ऐतिहासिक तथ्यों की सत्यता पर (उनसे जुड़ी सभी बातों पर) — और पृथ्वी के सौ वर्ष पूर्व के अस्तित्व पर भी शंका करे।

312. मुझे तो यह संशय व्यर्थ लगता है। किन्तु तब — क्या इतिहास पर हमारा विश्वास भी व्यर्थ नहीं है? नहीं; इससे तो अनेक बातें जुड़ी हैं।

313. तो क्या इसी कारण हम किसी प्रतिज्ञप्ति पर विश्वास करते हैं? हाँ — "विश्वास" का व्याकरण विश्वस्त प्रतिज्ञप्ति के व्याकरण से जुड़ा होता है।

314. किसी विद्यार्थी द्वारा यह पूछे जाने की कल्पना कीजिए : "क्या जब मैं मेज़ की ओर से मुड़ जाता हूँ, और जब उसे कोई नहीं देखता, तब भी क्या वह वहाँ होती है?" क्या अध्यापक को उसे आश्वस्त करते हुए कहना होगा : "बेशक, उसका अस्तित्व रहता है!"?

संभवतः अध्यापक अधीर हो जाए, किन्तु उसे विश्वास रहेगा कि धीरे-धीरे विद्यार्थी ऐसे प्रश्न पूछना बन्द कर देगा।

315. यानी अध्यापक को यह भान होगा कि यह प्रश्न पूछे जाने योग्य कतई नहीं है।

और विद्यार्थी के द्वारा प्रकृति की नियमवत्ता यानी आगमनात्मक तर्कों के औचित्य पर संदेह करने पर भी यही होगा — अध्यापक को भान होगा कि ऐसे प्रश्नों से तो गाड़ी अटक जाएगी और बात आगे नहीं बढ़ेगी। — और अध्यापक सही होगा। यह तो किसी कमरे में किसी वस्तु को खोजने जैसा ही होगा; मानो कोई व्यक्ति मेज़ की दराज खोलता है और वहाँ उस वस्तु को नहीं पाता; उस दराज को बंद करने के बाद वह फिर उसे दुबारा खोलता है कि कहीं अब वह वस्तु वहीं तो नहीं है, और बारम्बार यही करता रहता है। उसने वस्तुओं को खोजना सीखा ही नहीं है। इसी प्रकार इस विद्यार्थी ने भी प्रश्नों को पूछना नहीं सीखा है। उसने उस खेल को, जिसे हम उसे सिखाने का प्रयत्न कर रहे हैं, नहीं सीखा है।

316. पर इतिहास के अपने पाठ को रोककर पृथ्वी के अस्तित्व.... पर संशय जताने वाले शिष्य की भी क्या यही स्थिति नहीं होती?

317. इस संशय का हमारे खेल से सम्बन्धित संशयों से कोई सरोकार नहीं है। (किन्तु हमने इस खेल को भी तो नहीं चुना है!)

12.3.51

<u>318.</u> 'यह प्रश्न तो पैदा ही नहीं होता।' इसका उत्तर तो कोई पद्धति ही होगी। किन्तु पद्धति-सम्बन्धी प्रतिज्ञप्तियों और किसी पद्धति में अन्तर्निहित प्रतिज्ञप्तियों में कोई सुस्पष्ट सीमा नहीं होती।

<u>319.</u> किन्तु तब क्या हमें यह नहीं कहना पड़ेगा कि तार्किक प्रतिज्ञप्तियों और आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों में कोई सुस्पष्ट सीमा नहीं होती? सुस्पष्टता के अभाव का कारण तो नियम और आनुभविक प्रतिज्ञप्ति में कोई सीमा न होना है।

<u>320.</u> यहाँ याद रहे कि 'प्रतिज्ञप्ति' का प्रत्यय स्वयं ही सुस्पष्ट प्रत्यय नहीं है।

<u>321.</u> क्या मैं यही नहीं कह रहा : किसी भी आनुभविक प्रतिज्ञप्ति को प्राक्कल्पना बनाया जा सकता है — और तब वह विवरण का मानदण्ड बन जाती है। किन्तु मुझे इस पर भी शक है। इस वाक्य में अतिव्याप्ति दोष हैं। हम यही कहना चाहते हैं "किसी भी आनुभविक प्रतिज्ञप्ति को सिद्धान्ततः.... में परिवर्तित किया जा सकता है", किन्तु यहाँ "सिद्धान्ततः" का क्या अर्थ है? यह तो ट्रैक्टेटस की याद दिलाता है।

<u>322.</u> विद्यार्थी द्वारा मनुष्यों की याददाश्त से पूर्व पर्वत के अस्तित्व को अस्वीकार कर देने पर क्या होगा?

हम कहेंगे कि इस संशय का कोई आधार नहीं है।

<u>323.</u> यानी उचित संशय का आधार होना चाहिए?

हम यह भी कहेंगे : "समझदार मनुष्य इस पर विश्वास करते हैं।"

<u>324.</u> अतः, वैज्ञानिक आधार होने पर भी जो लोग बातों को नहीं मानते उन्हें हम समझदार नहीं कहते।

325. जब हम कहते हैं कि हम अमुक बातों को जानते हैं, तो हमारा अभिप्राय होता है कि हमारी स्थिति में कोई भी समझदार व्यक्ति उन बातों को जान सकता है और उन पर संशय करना नासमझी होगी। अतः, मूअर भी न केवल यह कहना चाहते हैं कि उन्हें अमुक बातों की जानकारी है, अपितु वे यह भी कहना चाहते हैं कि उनकी स्थिति में प्रत्येक समझदार व्यक्ति को भी उन बातों की जानकारी होगी।

326. इस परिस्थिति में उचित विश्वास का निर्धारण कौन करता है?

327. अतः यह कहा जा सकता है : "समझदार व्यक्ति यह मानता है कि : पृथ्वी का अस्तित्व उसके जन्म से बहुत पहले से है, उसने अपना जीवन पृथ्वी की सतह पर या फिर उसके निकट ही बिताया है, वह कभी भी चाँद पर नहीं गया है, उसमें भी अन्य व्यक्तियों के समान स्नायु-मण्डल एवं अन्य माँस-पेशियां, इत्यादि, इत्यादि हैं।"

328. "इसे मैं अपने नाम लु. वि. की तरह जानता हूँ।"

329. "यदि कोई इस पर सन्देह करे — और "सन्देह" का यहाँ चाहे जो भी अर्थ हो — वह इस खेल को सीख ही नहीं पाएगा।

330. अतः यहाँ "मैं जानता हूँ...." वाक्य किन्हीं विशिष्ट बातों पर विश्वास करने की तत्परता को व्यक्त करता है।

13.3.

331. अपने दृढ़ विश्वास के आधार पर जब भी हम निश्चितता से आचरण करते हैं, तो क्या कभी हम यह सोचते हैं कि अनेक ऐसी बातें हैं जिन पर संशय किया ही नहीं जा सकता?

332. दार्शनिक-चिन्तन से परे किसी के ऐसे कथन की कल्पना कीजिए, "मैं नहीं जानता कि मैं कभी चाँद पर गया था; मुझे याद नहीं है कि मैं कभी वहाँ गया होऊँ। (ऐसा व्यक्ति हमसे बिल्कुल भिन्न क्योंकर होगा?)

पहले तो — उसे पता ही कैसे चलेगा कि वह चाँद पर है? वह इसकी कल्पना भी कैसे कर पाएगा? तुलना कीजिए : "मुझे ज्ञात नहीं है कि मैं कभी क के गाँव गया था।" किन्तु मैं यह भी नहीं कह सकता कि क तुर्किस्तान में है क्योंकि मैं कभी तुर्किस्तान गया ही नहीं।

333. मैं किसी से पूछता हूँ "क्या आप कभी चीन गए हैं?" वह उत्तर देता है कि "मुझे पता नहीं"। तब यह कहा जाएगा "तुम्हें नहीं पता? वहाँ कभी जाने के तुम्हारे विश्वास का कोई कारण है? उदाहरणार्थ, तुम कभी चीनी सीमा के पास गए हो? या फिर तुम्हारे जन्म के समय तुम्हारे माता-पिता वहाँ गए थे?" — साधारणत : यूरोप-वासी यह जानते हैं कि वे कभी चीन गए थे या नहीं।

334. यानी : अमुक परिस्थितियों में ही कोई समझदार व्यक्ति इस बारे में सन्देह करता है।

335. न्याय-प्रक्रिया का आधार यह है कि परिस्थितियां ही कथनों को सम्भावना प्रदान करती हैं। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति इस संसार में माता-पिता के बिना ही आया है ऐसे कथन पर न्यायालयों में कभी भी विचार नहीं किया जाएगा।

336. किन्तु उचित तथा अनुचित की हमारी अवधारणा परिवर्तित होती रहती है। जिस बात को एक समय हम उचित समझते हैं उसी बात को किसी अन्य समय पर हम अनुचित मानते हैं। और इससे उलट भी।

तो क्या यहाँ कोई भी वस्तुनिष्ठ बात नहीं है?

कुछ अत्यन्त मेधावी और शिक्षित लोग बाइबल में वर्णित सृष्टि की कहानी पर विश्वास करते हैं परन्तु अन्य व्यक्ति इसे सर्वथा असत्य मानते हैं, और बाइबल में विश्वास रखने वाले लोगों को अन्य व्यक्तियों की मान्यताओं के आधार का ज्ञान होता है।

337. संशयातीत विषयों पर हमें प्रयोग करने की आवश्यकता ही नहीं होती। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि व्यक्ति कुछ पूर्वकल्पनाओं को मानकर चलता है। पत्र लिखकर डाकपेटी में डालने के बाद मुझे विश्वास रहता है — कि वह गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाएगा।

जब मैं कोई प्रयोग करता हूँ तो अपने सामने पड़े उपकरणों के अस्तित्व में सन्देह नहीं करता। मुझे अनेक संदेह हो सकते हैं पर ऐसा नहीं। जब मैं कोई परिकलन करता हूँ तो निस्संदेह मैं यह मानता हूँ कि कागज पर लिखी हुई संख्याएँ स्वतः परिवर्तित नहीं हो रहीं। साथ-साथ मैं अपनी याददाश्त पर भी पूरा भरोसा करता हूँ। यह भी चाँद पर मेरे कभी भी न जाने जैसा सुनिश्चित है।

338. किन्तु ऐसे लोगों की कल्पना कीजिए जो इन बातों के बारे में कभी भी निश्चिन्त नहीं थे पर यह कहते थे कि वे करीब-करीब निश्चिन्त थे और यह भी कहते थे कि इन बातों पर संशय करने से कोई लाभ नहीं होता। मेरी परिस्थिति में ऐसा व्यक्ति कहेगा : "मेरा चाँद पर जाना लगभग असंभव है", इत्यादि, इत्यादि। ऐसे लोगों का जीवन हमारे जीवन से किस प्रकार भिन्न है? क्योंकि ऐसे लोग होते हैं जो यह कहते हैं कि आग पर रखे पानी के उबलने के बजाय जमने की ज्यादह संभावना है और इसीलिए जिन बातों को हम असंभव मानते हैं वे बातें मात्र असंभाव्य ही होती हैं। इससे उनके जीवन में क्या अन्तर पड़ता है? क्या इतनी ही बात नहीं है कि वे कुछ विषयों के बारे में हमसे ज्यादा बातें करते हैं?

339. ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिए जिसे रेलवे स्टेशन से अपने मित्र को घर लाना हो पर वह समय-सारिणी में गाड़ी के आने के समय को देखकर ठीक समय पर स्टेशन जाने के बजाय यह कहे : "मुझे विश्वास तो नहीं है कि गाड़ी आएगी पर फिर भी मैं स्टेशन पर जाऊँगा।" वह सामान्य व्यक्ति की तरह आचरण करता है किन्तु ऐसा करते समय वह शंका करता रहता है या फिर झुंझलाता रहता है।

340. किसी गणितीय प्रतिज्ञप्ति में अपने विश्वास जैसी निश्चितता के समान ही हम जानते हैं कि क और ख अक्षरों का कैसे उच्चारण करना है, मनुष्य के रक्त का रंग कैसा होता है, और यह भी कि अन्य मनुष्य की शिराओं में भी रक्त होता है और वे उसे "रक्त" कहते हैं।

341. यानी, हमारे प्रश्न और हमारे संशय इस पर निर्भर करते हैं कि कुछ प्रतिज्ञप्तियों पर शंका नहीं की जा सकती, ऐसी प्रतिज्ञप्तियां मानो धुरी हों जिन पर हमारे प्रश्न और संशय घूमते हैं।

342. यानी, हमारे वैज्ञानिक अनुसंधान का तर्क ही यह है कि कुछ बातों पर वस्तुतः संशय नहीं किया जाता।

343. किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है : हम हर विषय पर अनुसंधान नहीं कर सकते और इसी कारण हमें अपनी कल्पना से सन्तोष करना पड़ता है। यदि मैं दरवाजे को घुमाना चाहता हूँ तो धुरी को अपनी जगह पर स्थिर रहना पड़ेगा।

344. मेरा जीवन बहुत सी बातों को स्वीकार कर सन्तुष्ट रहने में है।

345. अपने सामने रखे रंग के बारे में जानने के लिए यदि मैं किसी से पूछँ "इस समय आपको कौनसा रंग दिखाई दे रहा है?" तो यह पूछते समय मैं ऐसे सन्देह तो नहीं कर सकता कि उसे हिन्दी आती है कि नहीं, वह मेरी बात सुन रहा है कि नहीं, रंग के बारे में मेरी स्मृति कहीं धोखा तो नहीं दे रही, इत्यादि।

346. शतरंज की बाजी में किसी को मात देने का प्रयत्न करते समय मुझे यह संशय नहीं हो सकता कि गोटियां स्वत : अपना स्थान बदल रही हैं और स्मृति-भ्रम के कारण मुझे इसका पता नहीं चल पाता।

15.3.51

347. "मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है।" एक अत्यन्त सरल और साधारण वाक्य होने के बावजूद मुझे ऐसा क्यों लगता है कि मैं इसे समझ नहीं पाया। मानो मैं किसी भी अर्थ पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाया। इसका कारण

केवल यह है कि मैं अर्थ पर ध्यान ही नहीं देता। किसी वाक्य के दार्शनिक प्रयोग के बजाय उसके दैनिक प्रयोग पर विचार करते ही उसका अर्थ सुस्पष्ट एवं सरल हो जाता है।

348. जैसे "मैं यहाँ हूँ" शब्दों का अपने सन्दर्भों में ही कोई अर्थ है, उनका तब कोई अर्थ नहीं होता जब अपने सामने बैठे हुए, और मुझे अच्छी तरह देख सकने वाले व्यक्ति को उन्हें कहा जाए — इसका कारण इन शब्दों का निरर्थक होना न होकर, इनका सन्दर्भ सापेक्ष होना है, और अर्थ-निर्धारण के लिए सन्दर्भों की आवश्यकता होती है।

349. "मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है" — इसके अनेक अर्थ हो सकते हैं : मैं सामने के पौधे को बेरी समझता हूँ जबकि कोई अन्य व्यक्ति उसे किशमिश का पौधा समझता है। वह कहता है : "यह एक झाड़ी है", मैं कहता हूँ कि यह एक पेड़ है। — धुंधलके में हम किसी आकृति को आदमी समझते हैं जबकि कोई अन्य कहता है "मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है"। कोई मेरी नज़र को जाँचना चाहता है, इत्यादि, इत्यादि — इत्यादि, इत्यादि। हर बार जिसे मैं पेड़ कहता हूँ वह कोई और ही वस्तु होती है।

अत्यधिक सूक्ष्मता से अभिव्यक्त करने की दशा में क्या होगा? उदाहरणार्थ : "मैं जानता हूँ कि वह वस्तु एक वृक्ष है, मैं उसे स्पष्ट देख सकता हूँ।" — हम यह भी मान सकते हैं कि मैंने यह टिप्पणी किसी वार्तालाप के संदर्भ में की थी (यह तभी प्रासंगिक थी); और अब मैं पेड़ को देखते हुए इसी बात को बिना किसी संदर्भ में यह कहते हुए दोहराता हूँ कि "इन शब्दों से मेरा वही आशय है जो पाँच मिनट पहले था"। यदि, उदाहरणार्थ, मैं यह कहता कि मैं अपनी कमजोर दृष्टि के बारे में सोच रहा था और ये शब्द तो एक प्रकार की दुःखाभिव्यक्ति ही थे तो यह टिप्पणी हमें अचरज में नहीं डालती।

वाक्यार्थ को वाक्यार्थ-विस्तार से व्यक्त किया जा सकता है और इसलिए उसे वाक्यार्थ का अंग बनाया जा सकता है।

350. "मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है" यह कहकर कोई दार्शनिक या तो अपने-आपको या किसी अन्य व्यक्ति को यह समझाना चाहता है कि उसे किसी ऐसी बात का पता है जो न तो गणितीय सत्य है और न ही तार्किक सत्य। इसी प्रकार कोई ऐसा व्यक्ति जो यह सोचता हो कि वह अब नकारा हो चला है अपने आपसे बारम्बार कह सकता है "अभी भी मैं बहुत कुछ करने में समर्थ हूँ"। इन विचारों से बहुधा ग्रस्त रहने पर, और बिना किसी भी संदर्भ के इन वाक्यों के उच्चारण पर हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए | (किन्तु यहाँ मैंने पहले से ही एक पृष्ठभूमि, एक परिवेश बना दिया है यानी, इसको एक संदर्भ प्रदान कर दिया है।) किन्तु यदि कोई अत्यन्त विषम परिस्थितियों में नाटकीयता से कहे : "मुर्दाबाद!", "मुर्दाबाद!" तो कहा जा सकता है कि इन शब्दों (और उनके उच्चारण) का एक सुपरिचित प्रयोग तो हैं, किन्तु इस संदर्भ में यह भी ठीक से पता नहीं चलता कि बोलने वाला कौनसी भाषा इस्तेमाल कर रहा है। मैं अपने हाथ को इस तरह चला सकता हूँ मानो मैं आरी से किसी तख्ते को चीर रहा हूँ; किन्तु क्या कोई बिना किसी संदर्भ के इसे चीरना कह सकता है? (यह तो कोई नितान्त भिन्न बात भी हो सकती है!)

351. "क्या इन शब्दों का कोई अर्थ है?" क्या यह प्रश्न किसी हथौड़ी को दिखाते हुए यह पूछने के समान है "क्या यह कोई औज़ार है?" मैं कहता हूँ "हाँ, यह एक हथौड़ी है"। किन्तु तब क्या होगा जब जिस वस्तु को हम हथौड़ी कहते हैं वह अन्यंत्र, उदाहरणार्थ, कोई फेंक कर मारने वाली वस्तु हो, या किसी संगीतज्ञ की छड़ी हो? प्रयोग तो आप खुद तय करेंगे।

352. "मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है" किसी के ऐसा कहने पर मैं उसे प्रत्युत्तर दे सकता हूँ : "हाँ, यह एक वाक्य है, हिन्दी भाषा का एक वाक्य। किन्तु इसका क्या प्रयोजन है?" मान लीजिए वह कहे : "मैं तो स्वयं को यह याद दिलाना चाहता था कि मैं इस प्रकार की वस्तुओं को जानता हूँ"? —

353. पर मान लीजिए कि वह कहता "मैं एक तार्किक बात कहना चाहता था?" — मान लीजिए कि कोई वनपाल अपने मातहतों के साथ वन में जाता है और कहता है "अमुक, अमुक और अमुक पेड़ को काटना है" — और फिर यह कहता है कि "मैं जानता हूँ कि यह एक पेड़ है" तो क्या होगा? किन्तु क्या मैं

वनपाल के बारे में यह नहीं कह सकता कि “वह जानता है कि वह एक पेड़ है — वह न तो स्वयं इस बात की जाँच करता है और न ही मातहतों से इसकी जाँच करवाता है”?

354. संदिग्ध और असंदिग्ध व्यवहार। असंदिग्ध व्यवहार, संदिग्ध व्यवहार की पूर्व शर्त है।

355. किसी मन :चिकित्सक के (संभवत:) इस सवाल का “क्या आप जानते हैं कि वह क्या है?” मैं यह जवाब दूँ “मैं जानता हूँ कि वह एक आराम-कुर्सी है; मैं इसे पहचानता हूँ यह सदा से मेरे कमरे में है”। संभवत : वह मुझसे यह प्रश्न मेरी नज़र जाँचने की बजाय यह जानने के लिए पूछता है कि मुझमें वस्तुओं को पहचानने, उनके नाम और उनके प्रयोग जानने की क्षमता है। यहाँ तो व्यवहार-ज्ञान का प्रश्न है। “मेरा विश्वास है कि वह एक कुर्सी है” मेरा यह कथन गलत होगा क्योंकि इससे तो ऐसा पता चलेगा कि मैं अपने कथन की परीक्षा करवाना चाहता हूँ। जबकि वस्तुत : “मैं जानता हूँ कि” कथन की पुष्टि के अभाव में मैं हक्का-बक्का रह जाता हूँ।

356. मेरी “मन :स्थिति”, “जानकारी” भविष्य की घटनाओं का आश्वासन नहीं होती। यह तो इसमें निहित है कि न तो मुझे अपने संशय का आधार समझ आए और न ही मुझे यह पता चले कि आगे की जाँच कहाँ सम्भव है।

357. कहा जा सकता है : “‘मैं जानता हूँ’ कथन सामान्य निश्चितता को व्यक्त करता है, न कि संघर्षशील निश्चितता को।”

358. मैं ऐसी निश्चितता को त्वरित या सतही न मानकर एक जीवन-शैली जैसी मानता हूँ। यह बात बड़े भोन्डेपन से अभिव्यक्त हुई है और संभवत : ठीक से सोची भी नहीं गई है।

359. यानी मैं इसकी किसी पाशविक प्रवृत्ति की भाँति, औचित्य-अनौचित्य से परे होने की कल्पना करना चाहता हूँ।

360. मैं जानता हूँ कि यह मेरा पैर है। मेरा कोई भी अनुभव इसे नकार नहीं सकता।

यह विस्मय बोधक हो सकता है; किन्तु इससे किस बात की निष्पत्ति होती है? कम-से-कम यह निष्पत्ति तो होती ही है कि मैं असंदिग्ध रूप से अपने विश्वासानुसार कार्य करता हूँ।

361. मैं यह भी कह सकता हूँ : मुझे ऐसा इलहाम हुआ है। ईश्वर ने मुझे सिखाया है कि यह मेरा पैर है। अत : एतत्-ज्ञान-विरोधी किसी भी बात को मैं भ्रान्ति ही समझता हूँ।

362. किन्तु क्या इससे यह पता नहीं चलता कि ज्ञान किसी निर्णय से सम्बन्धित है?

363. और यहाँ विस्मयबोधक अभिव्यक्ति और तदनुकूल व्यवहार के बीच संक्रमण को जानना कठिन होगा

364. यह भी पूछा जा सकता है : "यदि आप जानते हैं कि यह आपका पैर है, — तो क्या आप यह भी जानते हैं या फिर क्या यह आपका विश्वास ही है कि कोई भविष्यत्कालीन अनुभव आपके इस ज्ञान को खण्डित करता प्रतीत नहीं होगा?" (यानी, कोई भी बात आपको ऐसी प्रतीति नहीं करा सकती।)

365. यदि कोई उत्तर दे : "मैं यह भी जानता हूँ कि इस ज्ञान को खण्डित करने वाली कोई बात मुझे कभी भी प्रतीत नहीं होगी", — इस विषय में उसकी असंदिग्धता के अतिरिक्त हमें और क्या पता चलेगा?

366. मान लीजिए कि हमारी "मैं जानता हूँ" अभिव्यक्ति का निषेध हो, और हमें "मेरा विश्वास है कि मैं जानता हूँ" कहने की ही अनुमति हो?

367. "जानने" जैसे शब्द का अर्थ "विश्वास करने" जैसा लगने का क्या यही कारण नहीं है कि "मैं जानता हूँ" अभिव्यक्ति का गलत प्रयोग करने वाला तिरस्कार का पात्र होता है?

परिणामस्वरूप, भूल निषिद्ध हो जाती है।

368. किसी भी अनुभव को अपने मत के खण्डन का प्रमाण न मानना भी तो एक निर्णय ही है। संभव है कि वह इस निर्णय के विरुद्ध आचरण करे।

16.3.51

369. यदि मैं अपने हाथ के अस्तित्व पर संशय करूँ तो मैं "हाथ" शब्द के अर्थ पर संशय करने से कैसे बच सकता हूँ? यानी, इतना ज्ञान तो मुझे है ही।

370. बेहतर होगा : मैं अपने वाक्य में 'हाथ' या अन्य शब्दों का सहज प्रयोग करता हूँ और उनके अर्थ पर संशय करना रसातल में जाना है — असंदिग्धता भाषा-खेल का सार तत्त्व है, और" मैं कैसे जानता हूँ...." जैसे प्रश्न भाषा-खेल से हमें बहिष्कृत कर देते हैं, या फिर उन खेलों को ही समाप्त कर देते हैं।

371. "मैं जानता हूँ कि यह एक हाथ है" क्या इसका मूअर के अनुसार यही या इस जैसा ही अर्थ नहीं है : हाथ के अस्तित्व पर सन्देह न करने वाले भाषा-खेलों में मैं ऐसा कह सकता हूँ, "मेरे इस हाथ में पीड़ा हो रही है" अथवा "यह हाथ अन्य हाथ से कमजोर है" अथवा "एक बार मेरा यह हाथ टूट गया था" इत्यादि।

372. "क्या यह वास्तव में हाथ है?" (या "मेरा हाथ है") इसे विशिष्ट परिस्थितियों में ही जाँचा जा सकता है। क्योंकि "मुझे संशय है कि यह वास्तव में मेरा (या एक) हाथ है" कथन किसी अन्य आधार के बिना निरर्थक है। इन शब्दों से संशय — या उसके प्रकार के बारे में पता नहीं चलता है।

373. यदि निश्चित होना संभव ही नहीं है तो किसी बात पर विश्वास करने का आधार ही क्यों संभव हो?

374. हम शिशु को "कदाचित् (या संभवतः) वह तुम्हारा हाथ है" न सिखाकर "वह तुम्हारा हाथ है" सिखाते हैं। शिशु इसी प्रकार अपने हाथ से संबंधित अनगिनत भाषा-खेलों को सीखता है। 'क्या वास्तव में यह हाथ है' जैसे प्रश्न या परीक्षण उसे कभी सूझते ही नहीं। साथ ही वह यह भी नहीं सीखता कि वह जानता है कि यह एक हाथ है।

<u>375.</u> हमें यह समझ लेना चाहिए कि किसी भी संदर्भ में, ऐसे सन्दर्भों में भी जहाँ उचित संशय का अवकाश हो, संशय का अत्यन्ताभाव भाषा-खेल को झुठला नहीं सकता। क्योंकि इतर गणित जैसा भी कुछ होता है।

मेरा मत है कि तर्कशास्त्र की किसी भी समझ के मूल में ऐसी स्वीकारोक्ति होनी चाहिए।

17.3.

<u>376.</u> मैं जोश के साथ यह दावा कर सकता हूँ कि (उदाहरणार्थ) यह मेरा पैर है।

<u>377.</u> किन्तु यह जोश (बहुत) विरल है और इस पैर के बारे में साधारण रूप में बात करते समय यह कहीं दिखाई भी नहीं देता।

<u>378.</u> ज्ञान अन्ततः स्वीकृति पर ही आधारित है।

<u>379.</u> मैं जोश के साथ कहता हूँ "मैं जानता हूँ कि यह पैर है" — किन्तु इसका क्या अर्थ है?

<u>380.</u> फिर मैं कह सकता हूँ : "इससे विपरीत संसार की कोई भी बात मुझे स्वीकार्य नहीं है!" क्योंकि मैं इस तथ्य को संपूर्ण ज्ञान का आधार मानता हूँ। मैं सब कुछ छोड़ सकता हूँ, पर इसे नहीं।

<u>381.</u> "संसार की कोई भी बात" अभिव्यक्ति वस्तुतः एक ऐसी अभिवृत्ति है जिसके दायरे में हमारी समस्त-विश्वस्त अथवा सुनिश्चित बातें नहीं आतीं।

<u>382.</u> इसका अर्थ यह नहीं है कि संसार की कोई भी बात मुझे किसी अन्य बात का काल नहीं बनाएगी।

<u>383.</u> "मैं स्वप्न ले रहा हूँ" इसलिए अर्थहीन है क्योंकि : स्वप्नावस्था में की गई टिप्पणी भी तो स्वप्न ही है — और वस्तुतः इन शब्दों के सार्थक होने की बात भी स्वप्न ही है।

384. “संसार की कोई भी बात....” यह किस प्रकार का वाक्य है?

385. इसका आकार भावी कथन का है, किन्तु (स्पष्टतः) यह अनुभव पर आधारित नहीं है।

386. मूअर के साथ जो भी यह कहता है कि वह जानता है कि ऐसा, ऐसा और ऐसा है.... — वह अपनी निश्चितता की कोटि प्रस्तुत करता है। और यह महत्त्वपूर्ण है कि उस कोटि का अधिकतम महत्त्व है।

387. कोई मुझसे पूछ सकता है : “आप कितनी निश्चितता से कह सकते हैं कि वहाँ एक पेड़ है; कि आपकी जेब में पैसे हैं; कि यह आपका पाँव है?” और पहले का उत्तर हो सकता है “पक्का नहीं पता”, दूसरे का “लगभग निश्चित हूँ”, और तीसरे का “मैं इस पर सन्देह नहीं कर सकता”। और बिना किसी आधार के भी ये उत्तर सार्थक होंगे। उदाहरणार्थ, मुझे यह कहने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी : “उसके पेड़ होने के बारे में मैं सुनिश्चित नहीं हो सकता क्योंकि मेरी नज़र तेज नहीं है”। मैं कहना चाहता हूँ : विशिष्ट अर्थ की अपेक्षा से ही मूअर का “मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है” कथन सार्थक होता है।

[मेरा मानना है कि मेरी टिप्पणियाँ चिन्तनशील दार्शनिक को रोचक लगेंगी। भले ही मैं कभी-कभार ही अपने लक्ष्य तक पहुँच पाता हूँ, तो भी उसे यह तो पता चल जाएगा कि मैं निरंतर किस लक्ष्य को पाना चाहता था।]

388. हम सभी ऐसे वाक्य का प्रयोग करते हैं और इसमें सन्देह नहीं कि वह सार्थक होता है। परन्तु क्या इससे किसी दार्शनिक निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है? “मैं नहीं जानता कि यह सोना है या पीतल” की अपेक्षा “मैं जानता हूँ कि यह एक हाथ है” यह वाक्य बाह्य जगत् के अस्तित्व की सिद्धि में क्या कहीं अधिक सहायक है?

18.3.

389. मूअर ऐसा उदाहरण देना चाहते थे जिससे यह पता चले कि हमें भौतिक वस्तुओं के बारे में प्रतिज्ञप्तियों का वास्तविक ज्ञान हो सकता है। — यदि शरीर के किसी अंग की वेदना के बारे में विवाद हो, तो जिसके अंग में उस

समय पीड़ा हो रही हो वह कह सकता है : “मैं तुम्हें निश्चित रूप से कहता हूँ कि अभी मुझे वहाँ पीड़ा हो रही है।” किन्तु यदि मूअर कहते : “मैं तुम्हें निश्चित रूप से कहता हूँ कि वह एक पेड़ है” तो यह अटपटा लगता। यहाँ किसी के व्यक्तिगत अनुभव में हमारी कोई रुचि नहीं है।

390. यहाँ तो इतना ही महत्त्वपूर्ण है कि इस बात को कहने का कोई अर्थ है कि हम इस तरह की किसी चीज को जानते हैं साथ ही साथ यह भी महत्त्वपूर्ण है कि ऐसी बात कहने से कुछ हासिल नहीं होता।

391. ऐसे भाषा-खेल की कल्पना कीजिए जिसमें “मेरे पुकारने पर आप द्वार के रास्ते प्रवेश करते हैं।” सामान्यतः ऐसी स्थिति में द्वार के अस्तित्व में संशय करना असंभव है।

392. मुझे तो यह दर्शाना है कि संशय की संभावना में भी संशय आवश्यक नहीं है। भाषा-खेल की संभावना इस पर निर्भर नहीं करती कि प्रत्येक संशय-योग्य बात पर संशय किया जाए। (गणित में व्याघात की भूमिका से इसका संबंध है।)

393. यदि भाषा-खेल के बाहर “मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है” वाक्य को कहा जाए तो यह (संभवत : किसी हिन्दी व्याकरण से) लिया गया उद्धरण हो। — “पर जब मैं इसे सार्थक ढंग से कहता हूँ तो क्या होता है?” ‘अर्थ’ के प्रत्यय के बारे में पुरानी गलतफहमी।

394. “यह ऐसी बातों में से है जिन पर मैं संशय नहीं कर सकता।”

395. “मैं वह सब जानता हूँ।” और मेरे वार्तालाप और आचरण से इसका पता चलता है।

396. (2)[3] के भाषा-खेल में क्या वह कह सकता है कि वह जानता है कि उन्हें ईंट कहते हैं? — “नहीं, पर उसे यह पता होता है।”

397. क्या मैं गलत, और मूअर पूर्णत : सही हैं? क्या मैंने विचार को ज्ञान समझने जैसी साधारण भूल नहीं कर दी है? बहरहाल, यह ठीक है कि मैं अपने आप यह नहीं सोचता कि “पृथ्वी का अस्तित्व मेरे जन्म से कुछ ही समय पहले से है” किन्तु इससे क्या मेरी जानकारी कम हो जाती है? क्या मैं यह नहीं जताता कि मैं इसे सर्वदा इसके परिणामों द्वारा ही जानता हूँ।

398. क्या मैं बिना विचारे यह नहीं जानता कि इस घर में कोई भी सीढ़ी जमीन से नीचे छठे तल की गहराई तक नहीं जाती?

399. किन्तु क्या मेरे परिणाम निकालने से केवल यही पता नहीं चलता कि मैं इस प्राक्कल्पना को स्वीकार करता हूँ?

19.3.

400. यहाँ मैं हवा में तलवार चला रहा हूँ क्योंकि जो बात मैं कहना चाहता हूँ उसे अभिव्यक्त करने में असमर्थ हूँ।

401. मैं कहना चाहता हूँ : न केवल तर्कशास्त्रीय अपितु आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों के आकार वाली प्रतिज्ञप्तियां भी विचारों (भाषा) का आधार होती हैं। — “मैं जानता हूँ....” इस टिप्पणी का आकार नहीं है। “मैं जानता हूँ....” अभिव्यक्ति मेरी जानकारी को अभिव्यक्त करती है, पर उसका कोई तार्किक महत्त्व नहीं है।

402. इस टिप्पणी में “आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों के आकार वाली प्रतिज्ञप्तियां” अभिव्यक्ति अपने-आप में बेहूदा है; प्रसंग तो भौतिक वस्तुओं के कथन का है। जैसे किसी प्राक्कल्पना के असिद्ध हो जाने पर किसी अन्य प्रतिज्ञप्ति को आधार बनाया जा सकता है वैसे ही इन प्रतिज्ञप्तियों को आधार के रूप में प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता।

> .... और विश्वास से लिखें “आरम्भ में तो कर्म ही था।”[4]

403. मूअर के अनुसार किसी व्यक्ति के बारे में यह कहना कि उसे कुछ पता है; इसीलिए उसका कथन सर्वथा सत्य है, मुझे मिथ्या लगता है। — इस बात के सत्य होने का कारण तो इसका उस भाषा-खेल का अविचल आधार होना ही है।

404. मैं कहना चाहता हूँ : ऐसा नहीं है कि कुछ बातों के सत्य होने के बारे में मनुष्य असंदिग्ध रूप से जानते हैं। नहीं : असंदिग्धता तो उनकी मनोवृत्ति पर निर्भर करती है।

405. बहरहाल यहाँ भी कोई गलती है।

406. साधारण रूप से की गई आकस्मिक टिप्पणी "मैं जानता हूँ कि वह एक...." और दार्शनिक की इसी टिप्पणी के भेद से भी लक्ष्य का पता चलता है।

407. क्योंकि मूअर के "मैं जानता हूँ कि वह...." कहने पर मैं उत्तर देता हूँ "आप कुछ भी नहीं जानते!" — पर फिर भी दार्शनिक-प्रवृत्ति से रहित व्यक्ति को मैं यह उत्तर नहीं दूँगा। यानी, मुझे लगता है (ठीक ही?) कि ये दोनों व्यक्ति कोई अलग-अलग बात कहते हैं।

408. क्योंकि यदि कोई कहता है कि उसे अमुक बात ज्ञात है, और यह उसके दर्शन का एक भाग है — तो इस कथन के त्रुटिपूर्ण होने पर उसका दर्शन असत्य हो जाता है।

409. जब मैं कहता हूँ "मैं जानता हूँ कि वह पैर है" — तो वास्तव में मैं क्या कहता हूँ? क्या सारी बात यह नहीं है कि मैं इसके परिणामों के बारे में सुनिश्चित हूँ — और यह भी कि अन्य व्यक्ति के शंका करने पर मैं उसे कहता "देखो — मैंने तुम्हें ऐसा कहा था"? यदि मेरा ज्ञान व्यावहारिक कार्य में कोई सहायता नहीं करता तो क्या उसका कोई महत्त्व है? और क्या वह मुझे धोखा नहीं दे सकता?

20.3.

410. हमारा ज्ञान एक बृहत् तन्त्र है। तन्त्र में ही हम किसी विशिष्ट भाग को महत्त्व प्रदान करते हैं।

411. यदि मैं यह (या फिर ऐसा ही कुछ और) कहता हूँ "हम मानते हैं कि पिछले कई वर्षों से पृथ्वी का अस्तित्व है" तो यह अटपटा लगता है कि हम ऐसी बात को मानते हैं। किन्तु भाषा-खेलों के संपूर्ण तन्त्र में यह आधारभूत है। कहा जा सकता है कि यह मान्यता हमारे व्यवहार का, और इसीलिए स्वभावत : हमारे विचार का आधार है।

412. ऐसी स्थिति (और ऐसी स्थिति विरल ही है) जिसमें हम कह सकते हैं कि "मैं जानता हूँ कि यह मेरा हाथ है" की कल्पना न कर सकने वाला व्यक्ति यह कह सकता है कि ये शब्द निरर्थक हैं। वस्तुत:, वह यह भी कह सकता है "बेशक मैं जानता हूँ — मैं इसे कैसे नहीं जानूँगा?" — पर तब वह संभवतः "यह मेरा हाथ है" इस वाक्य को "मेरा हाथ" शब्दों की व्याख्या के रूप में लेता है।

413. मान लीजिए कि आप किसी अंधे का हाथ पकड़ कर उसका मार्गदर्शन करते हुए उसे कहते हैं : "यह मेरा हाथ है"; यदि तब वह कहे "क्या आपको निश्चय है?" अथवा "क्या आप जानते हैं कि यह आपका हाथ है?" तो ये प्रश्न अत्यन्त विशिष्ट परिस्थितियों में ही सार्थक होंगे।

414. किन्तु दूसरी ओर : मैं कैसे जानता हूँ कि यह मेरा हाथ है? क्या मुझे इतना भी पूरी तरह पता है कि यहाँ यह मेरा हाथ है कहने का क्या अर्थ है? — जब मैं यह कहता हूँ कि "मुझे कैसे पता है?" तो मेरा अर्थ यह नहीं होता कि इसके बारे में मुझे कोई संशय है। यह तो मेरे व्यवहार का आधार है। किन्तु मुझे लगता है कि "मैं जानता हूँ" शब्दों द्वारा इसे गलत ढंग से अभिव्यक्त किया गया है।

415. वस्तुत:, "जानना" शब्द का मुख्य रूप से दार्शनिक शब्द के रूप में प्रयोग ही क्या बिल्कुल गलत नहीं है? यदि "जानने" का यह प्रयोग है तो "निश्चित होने" का क्यों नहीं? वस्तुतः इसलिए कि यह अत्यधिक व्यक्ति-सापेक्ष

हो जाएगा। किन्तु क्या “जानना” भी उतना ही मनोगत नहीं होता? कहीं हम इस व्याकरणिक विशिष्टता सेतो भ्रमित नहीं हो जाते कि “मैं जानता हूँ कि **प**” से “**प**” निष्पन्न होता है?

“मुझे विश्वास है कि मैं जानता हूँ” इससे कोई कम निश्चितता तो अभिव्यक्त नहीं होती। — यह ठीक है कि हम किसी बड़ी मनोगत निश्चितता को भी अभिव्यक्त करने का प्रयत्न नहीं कर रहे, अपितु हम तो यह कह रहे हैं कि कुछ बातें सभी प्रश्नों एवं सारे विचारों के मूल में प्रतीत होती हैं।

416. यह बात कि मैं पिछले कई सप्ताहों से इस कमरे में रह रहा हूँ और यहाँ मेरी स्मृति मुझे धोखा नहीं दे रही क्या इस बात का उदाहरण नहीं है?

— “सारे युक्तियुक्त संशयों से रहित असंदिग्ध” —

21.3.

417. “मैं जानता हूँ कि पिछले एक महीने से मैं प्रतिदिन स्नान कर रहा हूँ।” मैं किस चीज का स्मरण कर रहा हूँ? प्रतिदिन को और प्रात : के प्रति स्नान को? नहीं। मैं जानता हूँ कि मैंने प्रतिदिन स्नान किया पर मैं इसे किसी अन्य तात्कालिक बात से निष्पादित नहीं करता। इसी प्रकार अपने मन में (उदाहरणार्थ किसी बिम्ब के द्वारा) देह के किसी भाग को लाए बिना मैं कहता हूँ कि “मुझे अपनी बाँह में पीड़ा हुई”।

418. क्या मेरी समझ अपनी समझ की कमी पर पर्दा डाल देती है? मुझे अक्सर ऐसा लगता है।

419. जब मैं कहता हूँ कि “मैं कभी भी एशिया माइनर नहीं गया हूँ” तो मुझे इसका कैसे पता चलता है? न तो मैंने इसे सीखा है और न ही किसी ने मुझे इसके बारे में बताया है; मेरी स्मृति मुझे यह बताती है। — अतः, मैं इस बारे में भूल नहीं कर सकता? क्या इसमें कोई ऐसी सच्चाई है जिसे मैं जानता हूँ? — इस निर्णय को निरस्त करने के लिए मुझे अन्य सभी निर्णयों को निरस्त करना होगा।

420. मैं आजकल इंगलैण्ड में रहता हूँ इस प्रतिज्ञप्ति के भी दो पक्ष हैं : यह गलत नहीं है — पर दूसरी ओर मैं इंगलैण्ड के बारे में क्या जानता हूँ? क्या मेरा निर्णय खंड-खंड नहीं हो सकता?

क्या यह संभव नहीं है कि लोग मेरे कमरे में आयें और इससे विपरीत बात कहें? — और अपनी बात का 'प्रमाण' भी दें, जिससे मैं सामान्य लोगों में अकेला पागल या फिर पागलों में एकाकी सामान्य व्यक्ति दिखाई दूँ? क्या तब मैं उन बातों पर भी संशय नहीं करूँगा जो अभी मुझे संशय से रहित प्रतीत होती हैं?

421. मैं इंगलैण्ड में हूँ। — अपने संपूर्ण परिवेश से मुझे यह पता चलता है; जहाँ भी और जैसे भी मैं इस पर विचार करता हूँ, मेरा परिवेश पूर्णतः इसकी पुष्टि करता है। — किन्तु, जिसकी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की जा सकती ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाने पर क्या मैं स्थिर रह सकूँगा?

422. अतः, मैं उपयोगितावाद जैसी कोई बात कहने का प्रयास कर रहा हूँ।

यहाँ एक प्रकार की वेल्टानशाऊँग (विश्व-दृष्टि) मेरे आड़े आ रही है।

423. तो मूअर की भाँति मैं यह ही क्यों नहीं कहता कि "मैं जानता हूँ कि मैं इंगलैण्ड में हूँ"? ऐसा कहना विशिष्ट परिस्थितियों में सार्थक होता है और मैं उनकी कल्पना कर सकता हूँ। किन्तु, जब मैं इन परिस्थितियों के बिना इस वाक्य को इसलिए उदाहृत करने को कहता हूँ कि मैं इस प्रकार के सत्यों को निश्चितता के साथ जान सकता हूँ, तो यकायक यह मुझे संदिग्ध लगने लगता है। — क्या ऐसा होना चाहिए?

424. "मैं जानता हूँ कि **प**" ऐसा मैं या तो लोगों को यह बताने के लिए कहता हूँ कि मुझे भी प के सत्य होने के बारे में पता है, या फिर ऐसा मैं ⊢ **प** सिद्ध है पर बल देने के लिए ही कहता हूँ। हम यह भी कहते हैं "यह मेरा विश्वास नहीं है, मैं इसे जानता हूँ"। और इसे (उदाहरणार्थ) ऐसे भी कहा जा सकता है : "वह एक पेड़ है। कोई कपोल-कल्पना नहीं है।"

किन्तु इसके बारे में क्या कहेंगे : “यदि मैं किसी को कहता कि वह एक पेड़ है तो यह कोई कपोल-कल्पना नहीं होती।” क्या मूअर यही नहीं कहना चाहते?

__**425.**__ यह कोई कपोल-कल्पना नहीं है, और मैं किसी को भी असंदिग्ध रूप से पूर्ण निश्चितता के साथ यह बता सकता हूँ। किन्तु क्या इसका अर्थ है कि यह पूर्ण सत्य है? क्या यह सम्भव नहीं कि जिसे मैंने जीवन पर्यंत पेड़ के रूप में देखा हो और जिसे पूरी निश्चितता से चीह्ना हो — पता चले कि वह तो कोई भिन्न वस्तु है? क्या इससे मैं हैरान नहीं हो जाऊँगा?

पर फिर भी, इस वाक्य को अर्थ प्रदान करने वाली परिस्थितियों में यह कहना ठीक है कि “मैं जानता हूँ (यह मेरी कपोल-कल्पना नहीं है कि) वह एक पेड़ है”। यह कहना गलत होगा कि वास्तव में मैं इस पर विश्वास ही करता हूँ। यह कहना पूर्णत : भ्रामक होगा : “मेरा विश्वास है कि मेरा नाम **लु. वि.** है।” और यह भी ठीक है : इस बारे में मैं कोई गलती नहीं कर सकता। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि मैं इसके बारे में कभी भूल कर ही नहीं सकता।

21.3.51

__**426.**__ किन्तु हम कैसे दिखा सकते हैं कि हमें केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही नहीं, अपितु वस्तुओं के सत्यों का भी ज्ञान होता है। क्योंकि किसी का यह कह देना कि उसे ज्ञान है अपने आप में पर्याप्त नहीं है।

यह दिखाने के लिए हमें कहाँ से प्रारंभ करना होगा?

22.3.

__**427.**__ हमें यह दिखलाने की आवश्यकता है कि “मैं जानता हूँ....” अभिव्यक्ति के कभी भी प्रयोग न किए जाने पर भी व्यक्ति के व्यवहार से हमें तत्सम्बन्धी बात का पता चल ही जाता है।

__**428.**__ मान लीजिए कि साधारण व्यवहार करने वाला कोई व्यक्ति हमें आश्वासन दे कि उसे विश्वास है कि उसका अमुक नाम है, उसे विश्वास है कि वह अपने आस-पास रहने वाले लोगों को पहचानता है, उसे विश्वास है कि हाथों

और पैरों को न देखने की स्थिति में भी उसके हाथ-पैर होते हैं, इत्यादि। क्या हम उसे दिखा सकते हैं कि उसके क्रिया-कलाप (और उसके कथन) दर्शाते हैं कि ऐसा नहीं है?

23.3.51

429. अब जब मैं अपनी पैर की अंगुलियों को नहीं देख रहा, तब मेरी इस धारणा का क्या आधार है कि मेरे दोनों पैरों में पाँच-पाँच अंगुलियां हैं?

क्या यह कहना उचित है कि मेरे अभी तक के अनुभव ने मुझे सदा यही सिखाया है? क्या मैं अपने पूर्वानुभव पर अपनी दस पादांगुलियां होने से भी कहीं अधिक आश्वस्त हूँ?

मेरा पूर्वानुभव मेरी वर्तमान निश्चयात्मकता का कारण तो हो सकता है; किन्तु क्या यह इसका आधार है?

430. मैं किसी मंगलग्रह वासी से मिलता हूँ और वह मुझसे पूछता है "मनुष्यों की कितनी पादांगुलियां होती हैं?" — मैं कहता हूँ "दस। मैं आपको दिखाता हूँ"। यह कहकर मैं अपने जूते उतार देता हूँ। मान लीजिए कि वह इस बात पर हैरान होता है कि पैरों को देखे बिना ही मैं इतना आश्वस्त हूँ तो क्या मुझे कहना चाहिए : "पादांगुलियों को देखे बगैर हम मनुष्यों को पता होता है कि हमारी कितनी पादांगुलियां हैं"?

26.3.51

431. "मैं जानता हूँ कि यह कमरा दूसरी मंजिल पर है, दरवाज़े के पीछे एक संकरा गलियारा सीढ़ियों तक जाता है, इत्यादि, इत्यादि।" ऐसी परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है जिनमें मैं ऐसा कहूँ, किन्तु वे विरल ही होंगी। पर दूसरी ओर मैं दिन-प्रतिदिन अपने व्यवहार और कथनों द्वारा इस ज्ञान को प्रदर्शित करता रहता हूँ।

मेरे ऐसे व्यवहार और शब्दों का कोई अन्य व्यक्ति क्या अर्थ लगाता है? क्या इतना ही नहीं कि मैं अपने आधारों के बारे में आश्वस्त हूँ? — मैं यहाँ कई सप्ताहों से रह रहा हूँ और प्रतिदिन कई बार ऊपर-नीचे आता-जाता रहता हूँ, इस तथ्य से वह यह नहीं जान जाता कि मुझे पता है कि मेरा कमरा कहाँ है। — "मैं जानता हूँ" कहकर मैं उसे तभी आश्वस्त करता हूँ जब उसे पहले से ही उन बातों के बारे में पता नही होता जिनसे अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि मुझे पता है।

432. "मैं जानता हूँ...." कथन का अर्थ मेरे द्वारा 'जानने' के अन्य प्रमाणों से संबद्ध होने पर ही होता है।

433. अत :, जब मैं किसी को कहता हूँ कि "मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है" तो यह मेरे द्वारा उसे यह कहने जैसा होता है कि "वह एक पेड़ है; आप इस बात पर पूरी तरह विश्वास कर सकते हैं; इसमें कोई संदेह नहीं है"। और कोई दार्शनिक इस कथन का प्रयोग केवल यह प्रदर्शित करने के लिए करता है कि बातचीत में वस्तुतः ऐसा प्रयोग होता है। किन्तु, यदि उसका प्रयोग हिन्दी-व्याकरण पर टिप्पणी नहीं होती, तो उसे इस अभिव्यक्ति के कार्य-व्यापार का ब्योरा देना होगा।

434. क्या हमें अनुभव से पता चलता है कि अमुक-अमुक परिस्थितियों में लोगों को अमुक-अमुक बात का पता चलता है? यकीनन, अनुभव हमें बतलाता है कि, किसी घर में अमुक समय तक रहने के बाद, साधारणतः, मनुष्य को घर के बारे में पता चल जाता है। या फिर : अनुभव से हमें पता चलता है कि अमुक समय के प्रशिक्षण के बाद, प्रशिक्षणार्थी की राय पर विश्वास किया जा सकता है। अनुभव से हमें पता चलता है कि अमुक समय के प्रशिक्षण के बाद ही वह ठीक विश्लेषण कर सकता है। किन्तु — — —।

27.3.

435. बहुधा कोई शब्द हमें सम्मोहित कर लेता है। उदाहरणार्थ, "जानना" शब्द।

<u>436.</u> क्या ईश्वर हमारे ज्ञान से बंधा हुआ है? क्या हमारे अनेक कथन झूठे नहीं हो सकते? क्योंकि हम यही कहना चाहते हैं।

<u>437.</u> मैं कहना चाहता हूँ : “यह झूठ नहीं हो सकता।” यह महत्त्वपूर्ण है; किन्तु इसके परिणाम क्या हैं?

<u>438.</u> अपनी जानने की स्थिति के आधारों के बारे में उसे सन्तुष्ट किये बिना केवल यह कहने से कोई आश्वस्त नहीं होगा कि मैं जानता हूँ कि अमुक स्थान पर क्या हो रहा है?

<u>439.</u> “मैं जानता हूँ कि इस दरवाज़े के पीछे एक गलियारा है और भूतल पर जाने वाली सीढ़ी है” इस कथन की विश्वसनीयता का कारण यही है कि सभी को पता है कि मैं इस बात को जानता हूँ।

<u>440.</u> यहाँ व्यक्तिगत बात न होकर कोई सार्वभौमिक बात है।

<u>441.</u> न्यायालय में किसी साक्षी के केवल “मैं जानता हूँ....” कहने से कोई भी आश्वस्त नहीं होता। यह प्रमाणित करना आवश्यक है कि वह जानने की स्थिति में था।

अपने ही हाथ को देखते हुए “मैं जानता हूँ कि यह एक हाथ है” यह आश्वासन भी तब तक विश्वसनीय नहीं होता जब तक हमें उन परिस्थितियों का पता न हो जिनमें ऐसा कहा गया हो। ऐसी जानकारी होने पर ही यह निश्चय होता है कि वक्ता इस लिहाज़ से सामान्य है।

<u>442.</u> क्या यह सम्भव नहीं कि मैंने ऐसा मान लिया है कि मैं किसी बात को जानता हूँ?

<u>443.</u> मान लीजिए कि किसी भाषा में हमारी भाषा के “जानने” शब्द के अनुरूप कोई शब्द ही न हो। — लोग केवल टिप्पणी ही करते हों। (“वह एक पेड़ है”, इत्यादि)। उनको अपनी त्रुटि की सम्भावना का ज्ञान स्वाभाविक ही है। इसलिए वे वाक्यों के साथ ऐसे संकेत जोड़ देते हैं जिनसे यह पता चलता है कि उन्हें उस वाक्य के गलत होने की कितनी संभावना प्रतीत होती है — या फिर,

मैं कह सकता हूँ कि इस वाक्य के गलत होने की कितनी संभावना है? बाद के कथन को विशिष्ट परिस्थितियों का विवरण देकर भी इंगित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, “तब **अ** ने **ब** से कहा ‘....’। मैं उनके समीप ही खड़ा था और मेरी श्रवण-शक्ति भी ठीक है”, अथवा “कल **अ** अमुक स्थान पर था। मैंने उसे दूर से देखा था। मेरी दृष्टि बहुत अच्छी नहीं है”, अथवा “वहाँ एक पेड़ है : मैं उसे साफ-साफ देख सकता हूँ और मैंने उसे पहले भी अनेक बार देखा है”।

444. “गाड़ी दो बजे छूटती है। पक्की जानकारी के लिए एक बार और पता कर लो”, अथवा “गाड़ी दो बजे छूटती है। मैंने नवीनतम समय-सारिणी में अभी-अभी देखा है”। यह भी कहा जा सकता है “ऐसी बातों के लिए मुझ पर भरोसा किया जा सकता है”। ऐसे कथनों के लाभ स्पष्ट हैं।

445. किन्तु यदि मैं कहूँ “मेरे दो हाथ हैं” तो इसकी विश्वसनीयता को प्रदर्शित करने के लिए मुझे क्या कहना होगा? ज्यादा से ज्यादा यही कि परिस्थितियां साधारण हैं।

446. किन्तु मुझे इस बात का निश्चय क्यों है कि यह मेरा हाथ है? क्या संपूर्ण भाषा-खेल ही इस प्रकार की निश्चितता पर आधारित नहीं है?

अथवा : क्या यह ‘निश्चितता’ (पहले से ही) भाषा-खेल में पूर्वकल्पित तथ्य नहीं है? उदाहरणार्थ, इस तथ्य से कि जब हमें वस्तुओं की पक्की पहचान नहीं होती, तब या तो हम खेल को खेल ही नहीं रहे होते, या फिर उसे गलत खेल रहे होते हैं।

28.3.

447. 12 × 12=144 से इसकी तुलना कीजिए। यहाँ भी हम “संभवतः” शब्द नहीं कहते। क्योंकि जहाँ तक इस प्रतिज्ञप्ति के हमारे गलत गिनने अथवा गलत परिकलन करने, और परिकलन करते समय हमारी इन्द्रियों द्वारा हमें धोखा न देने पर आधारित होने का प्रश्न है वहाँ तक गणितीय और भौतिक प्रतिज्ञप्ति का एक ही स्तर है।

मैं कहना चाहता हूँ : भौतिक खेल गणितीय खेल की तरह ही सुनिश्चित है। किन्तु इसे समझने में भूल हो सकती है। मेरी टिप्पणी मनोवैज्ञानिक न होकर तार्किक है।

448. मैं कहना चाहता हूँ : जब हम गणित की प्रतिज्ञप्तियों (उदाहरणार्थ, पहाड़ों) के 'पूर्णत : सुनिश्चित' होने पर चकित नहीं होते तो हम "यह मेरा हाथ है" इस प्रतिज्ञप्ति के उतना ही सुनिश्चित होने पर आश्चर्य क्यों करें?

449. कोई बात तो हमें आधार के रूप में सिखाई जानी चाहिए।

450. मैं कहना चाहता हूँ : हमें इस तरह सिखाया जाता है "वह एक जामुनी वस्तु है", "वह एक मेज है"। यह सम्भव है कि शिशु ने प्रथम बार ही 'जामुनी' शब्द को "संभवत : वह एक जामुनी वस्तु है" वाक्य में सुना हो किन्तु फिर भी वह "जामुनी क्या होता है?" प्रश्न को पूछ सकता है। शायद उसे किसी चित्र को दिखा कर इसका उत्तर दिया जा सकता है। यदि उसे चित्र दिखाते हुए ही हम कहें "वह एक...." पर अन्य स्थितियों में हम "संभवत : वह एक...." कहने के सिवाय कुछ भी न कहें, तो क्या होगा — इसके व्यावहारिक परिणाम क्या होंगे?

सभी विषयों पर संशय करना कोई संशय नहीं होता।

451. मूअर के विरोध में मेरी यह आपत्ति — "वह एक पेड़ है" इस एकल वाक्य का अर्थ अनिश्चित है क्योंकि जिसे पेड़ कहा जा रहा है उसके बारे में "वह" कहना ही अनिश्चित है — उपयोगी नहीं है क्योंकि इसके अर्थ को उदाहरणार्थ यह कहकर अधिक सुनिश्चित किया जा सकता है : पेड़ के समान दिखाई देने वाली वह वस्तु किसी पेड़ की कृत्रिम नकल न होकर वास्तविक पेड़ ही है।"

452. उसके वास्तविक पेड़ होने या फिर होगा.... होने पर शक करना समुचित नहीं होगा।

मेरा इसे संशयातीत समझना महत्त्वपूर्ण नहीं है। किसी संशय के समुचित न होने का पता केवल मेरी जानकारी से तो नहीं चलता। अतः कोई ऐसा नियम होना चाहिए जिससे यह पता चले कि इस पर संशय करना समुचित नहीं है। किन्तु ऐसा नियम भी तो नहीं है।

453. वस्तुत : मैं कहता हूँ : "कोई भी समझदार व्यक्ति संशय नहीं करता।" — क्या हम माननीय न्यायाधीशों से यह पूछने की कल्पना कर सकते हैं कि कोई संशय समुचित है या नहीं?

454. ऐसी स्थितियां होती हैं जिनमें संशय करना समुचित नहीं होता, और ऐसी स्थितियां भी होती हैं जिनमें संशय करना तार्किक रूप से असंभव प्रतीत होता है। और इन दोनों में कोई सुस्पष्ट भेद नहीं दिखता।

29.3.

455. प्रत्येक भाषा-खेल शब्दों और विषयों के साहचर्य-बोध पर निर्भर करता है। 2 × 2 = 4 को जानने जैसी निश्चितता के समान हम जानते हैं कि यह एक कुर्सी है।

456. अत :, यदि इस बारे में (किसी भी अर्थ में) मैं संशय कर सकता हूँ या अनिश्चित हूँ कि यह मेरा हाथ है, तो इन शब्दों के अर्थ के बारे में भी मैं शंकित या अनिश्चित क्यों नहीं हो सकता?

457. तो, क्या मैं यह कहना चाहता हूँ कि निश्चितता भाषा-खेल की प्रकृति में ही निहित है?

458. संशय का विशिष्ट आधार होता है। प्रश्न तो यह है : भाषा-खेल में संशय का प्रवेश कैसे होता है?

459. यदि दुकानदार बिना किसी कारण केवल प्रत्येक वस्तु के विषय में निश्चित होने के लिए अपनी दुकान में रखे प्रत्येक सेब का निरीक्षण करना चाहे तो फिर वह अपने निरीक्षण का ही निरीक्षण क्यों न करे? पर क्या अब हम

विश्वास के बारे में बात कर सकते हैं (मेरा आशय 'धार्मिक विश्वास' जैसे विश्वास से है न कि अटकलबाजी से)? मनोवैज्ञानिक पदावली तो सिर्फ हमें वास्तविक मुद्दे से दूर ले जाती है।

460. मैं चिकित्सक के पास जाकर उन्हें अपना हाथ दिखलाते हुए कहता हूँ "यह एक हाथ है न कि....; मुझे इसमें चोट लगती है, इत्यादि, इत्यादि।" क्या मैं उन्हें कोई अनावश्यक जानकारी दे रहा हूँ? उदाहरणार्थ, क्या हम यह नहीं कह सकते : मान लीजिए कि "यह एक हाथ है" ये शब्द कोई जानकारी देते तो भी उसकी इस जानकारी की समझ पर आप कैसे भरोसा करते? वस्तुत :, 'इसके हाथ होने' पर यदि संदेह किया जा सकता है तो चिकित्सक को जानकारी देने वाले मेरे जैसे व्यक्ति के मनुष्य होने या न होने पर भी संदेह क्यों नहीं किया जा सकता? — किन्तु दूसरी ओर हम ऐसी स्थितियों की कल्पना भी कर सकते हैं — चाहे वे विरल ही क्यों न हों — जिनमें यह कथन अनावश्यक नहीं होता, या फिर अनावश्यक तो होता है किन्तु बेतुका नहीं होता।

461. मान लीजिए कि मैं एक चिकित्सक हूँ और कोई मरीज़ मेरे पास आकर अपना हाथ दिखाते हुए कहता है : "हाथ जैसी दिखने वाली यह वस्तु कोई उत्कृष्ट नकल न होकर — वास्तव में एक हाथ है" और फिर अपनी चोट के बारे में बताए — तो क्या मुझे इसको जानकारी के रूप में लेना चाहिए, चाहे वह अनावश्यक ही हो? क्या मुझे इसे बकवास नहीं मानना चाहिए चाहे यह जानकारी-जैसी ही क्यों न हो? क्योंकि मैं कहूँगा कि यदि जानकारी सार्थक होती तो उसे अपने कथन पर भरोसा कैसे होता? इसे जानकारी बनाने वाली पृष्ठभूमि का अभाव है।

30.3.

462. मूअर कोई ऐसी बात क्यों नहीं कहते जिसे वे जानते हों — उदाहरणार्थ — इंग्लैंड के अमुक भाग में अमुक गाँव है? दूसरे शब्दों में : वह किसी ऐसे तथ्य का उल्लेख क्यों नहीं करते जिसे वे तो जानते हों किन्तु जिससे हम सब अपरिचित हों?

31.3.

463. यह तो सच ही है कि "वह एक पेड़ है" जब तक इस बात पर कोई भी संशय न कर सके तो यह बात कोई मज़ाक हो सकती है और इसीलिए यह सार्थक भी हो सकती है। रेनान ने एक बार ऐसा मजाक किया था।

3.4.51

464. मेरी कठिनाई को इस प्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है : मैं किसी मित्र से वार्तालाप में संलग्न हूँ। अचानक वार्तालाप के मध्य मैं कहता हूँ : "मैं जानता था कि तुम अमुक हो"। क्या यह टिप्पणी सच होते हुए भी अनावश्यक नहीं है?

मुझे ये शब्द वार्तालाप के मध्य "नमस्ते" कहने जैसे लगते हैं।

465. "मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है" यह कहने के बजाय यदि मैं कहूँ "आजकल वे जानते हैं कि कीड़ों की.... प्रजातियां हैं" तो क्या होगा? यदि कोई व्यक्ति बगैर संदर्भ के अचानक उस वाक्य का उच्चारण कर बैठे तो हम सोचेंगे : वह इस दौरान कुछ सोच रहा था और अब अपनी विचार-श्रृंखला में से किसी एक वाक्य को बोल रहा है। या फिर : वह लोकातीत स्थिति में है और बिना यह जाने कि वह क्या बोल रहा है, कुछ बोल रहा है।

466. अत : मुझे प्रतीत होता है कि मैं किसी बात को सदा से जानता हूँ किन्तु फिर भी इस सच्चाई को कहने का कोई मतलब नहीं है।

467. मैं बाग में किसी दार्शनिक के साथ बैठा हूँ; वह हमारे समीप किसी पेड़ को इंगित करते हुए बारम्बार कहता है, "मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है"। कोई अन्य व्यक्ति वहाँ आता है और उसे यह कहते हुए सुनता है तो मैं आगन्तुक को कहता हूँ : "यह व्यक्ति पागल नहीं है। हम तो बस दार्शनिक चिन्तन कर रहे हैं"।

4.4.

468. बिना किसी संदर्भ के कोई कहता है, "वह एक पेड़ है"। वह इस वाक्य को बोल सकता है क्योंकि उसने ऐसी ही स्थिति में ऐसा सुना है; या फिर वह पेड़ की सुंदरता को देखकर स्तब्ध हो गया और यह वाक्य उसकी स्तब्धता की अभिव्यक्ति थी; या फिर वह इस वाक्य को किसी व्याकरण के उदाहरण के रूप में उच्चरित करता है; इत्यादि, इत्यादि। जब मैं उससे पूछता हूँ, "आपका क्या आशय था?" तो वह उत्तर देता है, "यह आपको जानकारी देने के लिए था"। तो क्या मैं यह मानने के लिए स्वतन्त्र नहीं हूँ कि यदि वह मुझे यह जानकारी देना चाहता है तो वह पागल है क्योंकि वह अपने कथन का अर्थ नहीं जानता?

469. वार्तालाप के मध्य में कोई अचानक मुझे कहता है कि "आपको मेरी शुभकामनाएं"। मैं स्तब्ध रह जाता हूँ; किन्तु बाद में मुझे इन शब्दों से अपने प्रति उसकी भावनाओं का पता चलता है। और तब वे मुझे निरर्थक नहीं लगते।

470. मेरे **लु.वि.** सम्बोधन के बारे में कोई संशय क्यों नहीं है? यह कोई निर्भ्रान्त प्राक्कल्पना तो नहीं है। यह अकाट्य सत्य भी नहीं लगता।

5.4.

[यहाँ मेरी सोच में अभी भी एक बड़ी दरार है। और मुझे शक है कि इसे अब कभी भरा भी जा सकेगा।]

471. आदि की खोज अत्यन्त दुरूह है। अथवा, बेहतर ढंग से : आदि से आरम्भ करना कठिन होता है। और उससे भी पीछे जाने की कोशिश न करना।

472. शिशु भाषा सीखने के साथ-साथ अन्वीक्ष्य तथा अनन्वीक्ष्य विषय को भी सीख जाता है। जैसे कमरे में रखी अलमारी की जानकारी देते समय शिशु को यह नहीं सिखाया जाता कि किसी अन्य अवसर पर उसी अलमारी को देखकर वह यह न सोचे कि कहीं यह किसी नाटक का दृश्य तो नहीं है।

473. लिखना सीखते समय जैसे हम वर्णों के मूलाकारों को सीखते हैं और फिर उनमें बदलाव लाना सीखते हैं, उसी प्रकार पहले तो हम वस्तुओं की स्थिरता के प्रतिमान के रूप को सीखते हैं और फिर उसमें बदलाव लाना।

474. यह खेल स्वयं अपना महत्त्व सिद्ध कर देता है। यह बात खेल खेलने का निमित्त तो हो सकती है किन्तु उसका आधार नहीं।

475. अब मैं मनुष्य को किसी पशु जैसा समझना चाहता हूँ; एक ऐसे आदिम प्राणी जैसा जिसमें नैसर्गिक प्रवृत्ति तो है, किन्तु चिन्तन नहीं है। आदिमावस्था के प्राणी जैसा। सम्प्रेषण के आदिम साधनों के तर्क के लिए हमें सफाई देना आवश्यक नहीं है। भाषा की उत्पत्ति चिन्तन से नहीं हुई है।

6.4.

476. बच्चे यह नहीं सीखते कि पुस्तकों का अस्तित्व है, कुर्सियों का अस्तित्व है, इत्यादि, इत्यादि — वे पुस्तकें लाना, कुर्सियों पर बैठना, इत्यादि, इत्यादि सीखते हैं।

बाद में, बेशक, वस्तुओं के अस्तित्व विषयक प्रश्न उठाए जाते हैं। "क्या एकश्रृंगी जैसा कुछ होता है?" इत्यादि। अनुरूप प्रश्न के अभाव के कारण ही ऐसे प्रश्न की सम्भावना रहती है। अन्यथा हमें एकश्रृंगी के अस्तित्व-विषयक जानकारी प्राप्त करने के उपायों का कैसे पता चलेगा? अस्तित्व को जानने की पद्धति हमने कैसे सीखी?

477. "अत :, जिन वस्तुओं के नाम को हम शिशुओं को निदर्शनात्मक पद्धति से सिखाते हैं, उनके अस्तित्व के बारे में हमें जानकारी होनी ही चाहिए।" — उनके अस्तित्व के बारे में हमें जानकारी क्यों होनी चाहिए? क्या यही पर्याप्त नहीं है कि हमारा अनुभव बाद में इससे उलट बात नहीं बताता?

भाषा-खेल को क्यों किसी प्रकार के ज्ञान पर आधारित होना चाहिए?

7.4.

478. क्या शिशु को दूध के अस्तित्व पर विश्वास होता है, अथवा क्या उसे दूध के अस्तित्व की जानकारी है? क्या बिल्ली को चूहे के अस्तित्व की जानकारी होती है?

479. क्या हमें यह कहना होगा कि भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व की जानकारी या तो बहुत पहले आती है या फिर बहुत बाद में?

8.4.

480. "पेड़" शब्द के प्रयोग को सीखने वाला शिशु। उसके साथ पेड़ के समक्ष खड़े होकर हम कहते हैं "प्यारापेड़!" स्पष्टतः, इस भाषा-खेल में पेड़ के अस्तित्व में कोई संशय उपस्थित ही नहीं होता। किन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि शिशु जानता है : 'कि पेड़ का अस्तित्व है'? यह तो ठीक है कि 'किसी वस्तु को जानने के लिए' उसके बारे में चिन्तनकरने की आवश्यकता नहीं होती — किन्तु, क्या ज्ञाता में संशय करने की क्षमता नहीं होनी चाहिए? और संशय करने का अभिप्राय है चिन्तन करना।

481. जब हम मूअर को यह कहते हुए सुनते हैं कि "मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है" तो हमें यकायक उन लोगों की बात समझ आ जाती है जो सोचते हैं कि यह बात अभी तय नहीं हुई है।

यकायक ऐसा लगने लगता है कि यह स्थिति अस्पष्ट और धुँधली है। मानो मूअर ने इसे ठीक सन्दर्भ में न रखा हो।

मानो मैंने किसी (उदाहरणार्थ किसी मंच के) चित्र को दूर से ही देखकर निस्सन्देह पहचान लिया हो कि वह किस का चित्र है। पर अब मैं उसके समीप आता हूँ : मुझे विभिन्न रंगों के अनेक धुंधले धब्बे दिखाई देते हैं जिनसे कुछ भी पता नहीं चलता।

482. मानो "मैं जानता हूँ" अभिव्यक्ति का तत्त्वमीमासीय सरोकार न हो।

483. "मैं जानता हूँ" अभिव्यक्ति का समुचित प्रयोग। कमज़ोर नज़र वाला कोई व्यक्ति मुझसे पूछता है : "क्या आपको विश्वास है कि हमें दिखाई पड़ने वाली वह वस्तु एक पेड़ है?" मैं उसे उत्तर देता हूँ : "मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है; मैं उसे अच्छी तरह देख सकता हूँ और उससे परिचित भी हूँ"। — **अः** "क्या **न. न.** घर पर हैं?" — मैं : "मुझे विश्वास है कि वे घर पर हैं।" — **अः** क्या वे कल घर पर थे?" — मैं : "मैं जानता हूँ कि वे घर पर थे; मैंने उनसे

बातचीत की थी।” **अ:** “क्या आप जानते हैं या केवल ऐसा मानते हैं कि घर का यह भाग बाकी घर से बाद में बनाया गया था?” — मैं : मैं जानता हूँ कि ऐसा ही है; मैंने यह बात अमुक व्यक्ति से जानी थी।”

<u>484.</u> तो, इन परिस्थितियों में हम “मैं जानता हूँ” कहते हैं और यह उल्लेख भी करते हैं, या कर सकते हैं कि हम कैसे जानते हैं।

<u>485.</u> हम ऐसी स्थिति की कल्पना भी कर सकते हैं जिसमें कोई व्यक्ति प्रतिज्ञप्तियों की सूची पढ़ते हुए यह भी पूछता रहता है “क्या मैं इसे जानता हूँ, या फिर इस पर विश्वास ही करता हूँ?” वह प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति की विश्वसनीयता की जाँच करना चाहता है। यह किसी न्यायालय में गवाह के कथन जैसी कोई बात हो सकती है।

9.4.

<u>486.</u> क्या आप जानते हैं या फिर क्या यह केवल आपका विश्वास ही है कि आपका नाम **लु. वि.** है? क्या यह कोई सार्थक प्रश्न है?

क्या आप जानते हैं, या फिर क्या यह केवल आपका विश्वास ही है कि आप अभी हिन्दी के शब्द लिख रहे हैं? क्या आपका विश्वास है कि “विश्वास” का यही अर्थ होता है? कैसा अर्थ?

<u>487.</u> इसका क्या प्रमाण है कि मैं किसी बात को जानता हूँ? मेरा यह कहना तो कतई नहीं कि मैं उसे जानता हूँ।

<u>488.</u> तो, जब लेखक उन सब बातों को गिनाते हैं जिन्हें वे जानते हैं तो इससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

अतः, भौतिक पदार्थों के ज्ञान की संभावना को ऐसे लोगों के साक्ष्य से सिद्ध नहीं किया जा सकता जिन्हें यह विश्वास है कि उन्हें उनका ज्ञान है।

<u>489.</u> क्योंकि “मेरा विश्वास है कि आपको ऐसा लगता है कि आप जानते हैं” ऐसा कहने वाले व्यक्ति को क्या उत्तर दिया जाएगा?

490. जब मैं पूछता हूँ "क्या मैं जानता हूँ या फिर क्या यह मेरा विश्वास ही है कि मेरा नाम....?" तो आत्म-विश्लेषण से कोई लाभ नहीं होता।

किन्तु मैं कह सकता हूँ : मुझे कभी तनिक भी संदेह नहीं हुआ कि मेरा अमुक नाम है, अपितु इस पर संदेह करने पर तो मैं कहीं का नहीं रहूँगा।

10.4.

491. "क्या मैं जानता हूँ या फिर क्या यह मेरा विश्वास ही है कि मेरा नाम **लु.वि.** है?" — बेशक, यदि यह प्रश्न होता "क्या मुझे निश्चय है या फिर मैं केवल अनुमान लगा रहा हूँ कि....?" तो मेरे उत्तर पर भरोसा किया जा सकता था।

492. "क्या मैं जानता हूँ या फिर क्या यह मेरा विश्वास ही है....?" इसकी यह भी अभिव्यक्ति हो सकती है : जिस बात को हम अभी तक संशयातीत समझते आये हैं यदि वही निर्मूल लगने लगे तो क्या होगा? तब क्या मेरी वही प्रतिक्रिया होगी जो किसी मान्यता के निर्मूल सिद्ध होने पर होती है? अथवा क्या इससे मेरे समस्त निर्णयों का आधार ही समाप्त हो जायेगा? — बेशक मेरा मन्तव्य कोई भविष्यवाणी करना नहीं है।

क्या मैं यही कहूँगा कि "मुझे कभी ऐसा सोचना ही नहीं चाहिए था" — या फिर मुझे अपने निर्णय को संशोधित करने से इन्कार कर देना होगा (चाहिए) — क्योंकि ऐसे 'संशोधन' से सभी मानदण्ड लुप्त हो जाएंगे?

493. तो क्या बात यह है : कोई भी निर्णय लेने के लिए मुझे कुछ मानदण्डों को अपनाना पड़ेगा?

494. इस प्रतिज्ञप्ति पर संशय करने के लिए तो मुझे समस्त निर्णय ताक पर रखने होंगे।

पर यह किस प्रकार की प्रतिज्ञप्ति है? (यह तादात्म्य सिद्धान्त के बारे में फ्रेगे के कथन की याद दिलाती है।[5]) यह आनुभविक प्रतिज्ञप्ति तो कतई नहीं है। इसका मनोविज्ञान से कोई सरोकार नहीं है। यह तो अधिकाधिक नियम जैसी है।

495. संशयातीत प्रतिज्ञप्तियों पर आपत्ति उठाने वाले व्यक्ति को यही कहा जा सकता है "बकवास कर रहे हो!" यानी उत्तर देने की बजाय उसकी भर्त्सना की जाय।

496. यह तो किसी को किसी खेल के सदैव गलत खेले जाने जैसी निरर्थक जानकारी देने जैसा ही होगा।

497. यदि कोई मेरे मन में संदेह उत्पन्न कराना चाहे और यह कहे : यहाँ आपकी स्मृति आपको धोखा दे रही है, उस बार आप धोखा खा गए, और उससे पूर्व भी आपने अपने आपको पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं किया, इत्यादि पर फिर भी यदि मैं अविचलित बना रहूँ और अपने निश्चय पर अड़ा रहूँ — तो मेरा यह व्यवहार गलत नहीं होगा, भले ही इसी से खेल का निर्धारण क्यों न हो।

11.4.

498. विचित्र बात तो यह है कि किसी व्यक्ति के "बकवास!" कहने को यद्यपि मैं उचित मानता हूँ और मूलभूत बातों पर संशय दर्शा कर उसे भ्रमित करने के प्रयास को अनुचित मानता हूँ — फिर भी (उदाहरणार्थ — "मैं जानता हूँ" शब्दों के प्रयोग द्वारा) उसके बचाव के प्रयास को भी मैं अनुचित मानता हूँ।

499. मैं इसे ऐसे भी कह सकता हूँ : "आगमनात्मक सिद्धान्त" का आधार और आनुभविक प्रतिज्ञप्ति का आधार एक जैसा होता है।

500. किन्तु यह कथन भी मुझे निरर्थक ही लगेगा कि "मैं जानता हूँ कि आगमनात्मक सिद्धान्त सत्य है"।

ऐसे कथन के न्यायालय में कहे जाने की कल्पना कीजिए! “मेरा विश्वास है कि.... सिद्धान्त....” कहना अधिक उचित होगा। यहाँ ‘विश्वास’ का अनुमान लगाने से कोई सरोकार नहीं है।

501. क्या अन्ततोगत्वा मैं यही नहीं कह रहा हूँ कि तर्कशास्त्र वर्णन से परे है? भाषा प्रयोग से आपको इसका पता चलेगा।

502. मेरे हाथ की स्थिति के बारे में दूसरे लोगों के विपरीत साक्ष्य के बावजूद भी क्या मैं कह सकता हूँ कि “मैं आँखें बन्द करने पर भी अपने हाथ की स्थिति बता सकता हूँ”?

503. मैं किसी वस्तु को देखकर कहता हूँ “वह एक पेड़ है” अथवा “मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है”। — अब यदि उसके समीप जाने पर यह पता चले कि वह पेड़ नहीं है तो मैं या “तो वह पेड़ नहीं था” या फिर “यह पेड़ तो था पर अब नहीं रहा” ऐसा कहता हूँ। किन्तु यदि अन्य सभी लोग मेरा विरोध करें और कहें कि वह कभी पेड़ था ही नहीं और यदि सारे साक्ष्य मेरे विरुद्ध हों — तो “मैं जानता हूँ” कहने पर अड़े रहने से मेरा क्या भला होगा?

504. साक्ष्य के पक्ष या विपक्ष पर मेरा किसी बात को जानना निर्भर करता है। क्योंकि अपनी वेदना को जानने जैसी बात का कोई अर्थ नहीं होता।

505. हमें किसी बात का ज्ञान ईश्वर की अनुकंपा के कारण ही होता है।

506. “यदि मेरी स्मृति मुझे यहाँ धोखा दे रही है तो वह मुझे कहीं भी धोखा दे सकती है।”

यदि मुझे यह ज्ञात नहीं तो मुझे यह कैसे पता चलेगा कि मेरे शब्दों का मनोनुकूल अर्थ है?

507. “यदि यह मुझे धोखा देता है तो ‘धोखा देने’ का अर्थ ही क्या होगा?”

508. मैं किस पर भरोसा करूँ?

<u>509.</u> वस्तुत : मैं यह कहना चाहता हूँ कि किसी बात पर विश्वास करने पर ही भाषा-खेल संभव होता है (मैंने यह नहीं कहा कि “किसी बात पर विश्वास कर सकने पर”)।

<u>510.</u> जब मैं कहता हूँ “बेशक मैं जानता हूँ कि वह एक तौलिया है” तो मैं कुछ अभिव्यक्त करता हूँ। मेरे मन में उसे प्रमाणित करने का कोई विचार ही नहीं होता। वह तो मेरी अव्यवहित अभिव्यक्ति ही है।

भूत अथवा भविष्य के बारे में तो मैं सोचता ही नहीं। (और बेशक मूअर भी ऐसा ही सोचते हैं।)

यह तो किसी बात को सीधे-सादे ढंग से उसी प्रकार ग्रहण करना है, जैसे मैं बिना किसी शक के अपने तौलिये को पकड़ता हूँ।

<u>511.</u> और अव्यवहित ग्रहण ज्ञान के अनुरूप न होकर निश्चितता के अनुरूप होता है।

पर क्या मैं किसी वस्तु के नाम को भी इसी प्रकार ग्रहण नहीं करता?

12.4.

<u>512.</u> क्या प्रश्न यह नहीं है : “इन आधारभूत बातों के बारे में भी अपने मत को बदलने पर क्या होगा?” और मेरे अनुसार इसका उत्तर होगा : “उनके बारे में आपको अपने मत को बदलना ही नहीं पड़ेगा। ‘आधारभूत’ होने का अर्थ ही यही है।”

<u>513.</u> अनहोनी होने पर क्या होगा? — उदाहरणार्थ, यदि मैं घरों को अकारण ही वाष्पीभूत होते देखूँ, यदि खेतों में पशु अपने सिर के बल खड़े होकर हँसने लगें और सार्थक शब्द बोलने लगें; यदि वृक्ष शनै : शनै : मानव और मानव वृक्षों के रूप में परिवर्तित होने लगें, तो इन समस्त घटनाओं के घटित होने से पहले क्या मेरा यह कहना ठीक था कि “मैं जानता हूँ कि वह एक घर है” इत्यादि, या फिर सिर्फ यह कहना कि “वह एक घर है” इत्यादि, उचित था?

514. मुझे यह आधारभूत कथन लगता था; यदि यही गलत है तो फिर 'सत्य' अथवा 'असत्य' किसे कहेंगे?!

515. यदि मेरा नाम **लु. वि.** नहीं है तो मैं "सत्य" अथवा "असत्य" पर कैसे विश्वास कर सकता हूँ?

516. ऐसी स्थिति (जैसे कोई मुझे बताये) जिसमें मैं अपने नाम के बारे में ही संदेह करने लगूँ से इस संदेह के आधार भी संदेहास्पद हो जाएंगे, और तब मैं अपने पुराने विश्वास को यथावत् बनाये रख सकता हूँ।

517. किन्तु, क्या किसी तरह मेरे लीक से हटने की संभावना नहीं है? ऐसा साक्ष्य जिससे अतिविश्वसनीय बातें भी अस्वीकार्य हो जायें? या फिर जिसके कारण मैं अपने आधारभूत निर्णयों का भी परित्याग कर दूँ? (यहाँ गलत या सही का प्रश्न तो है ही नहीं।)

518. क्या मैं किसी अन्य व्यक्ति में इसे देखने की कल्पना कर सकता हूँ?

519. यह तो सच है कि "मुझे एक पुस्तक दो" जब आप इस आदेश का पालन करते हैं तो आप इस बात की जाँच कर सकते हैं कि दृश्यमान वस्तु वस्तुत : पुस्तक ही है, किन्तु आप यह तो जानते ही हैं कि "पुस्तक" शब्द से क्या अभिप्राय है; पर यदि आप उसका अर्थ नहीं जानते तो आप उसे जान सकते हैं, — किन्तु, फिर भी आपको किसी अन्य शब्दार्थ का ज्ञान होना ही चाहिए। किसी शब्द का अमुक अर्थ या अमुक ढंग से प्रयोग, दृश्यमान वस्तु के आनुभविक तथ्य होने जैसा है।

इसीलिए, आदेश पालन के लिए किसी निर्भ्रान्त आनुभविक तथ्य की आवश्यकता होती है। संदेह, निर्भ्रान्त तथ्य पर आधारित होता है।

किन्तु, भाषा-खेल के कालानुरूप नियमों की पुनरावृत्ति में निहित होने के कारण यह कहना असंभव लगता है कि भाषा-खेल के अस्तित्व के लिए किसी विशिष्ट स्थिति में कौनसी बात संशयातीत होनी चाहिए — यद्यपि यह कहना तो ठीक ही है कि साधारणतया कोई आनुभविक निर्णय संदेहातीत होना चाहिए।

13.4.

520. मूअर को यह कहने का पूर्ण अधिकार है कि उन्हें पता है कि उनके समक्ष एक पेड़ विद्यमान है। यह स्वाभाविक है कि वे गलत हो सकते हैं। (क्योंकि यह "मुझे विश्वास है कि वह एक पेड़ है" अभिव्यक्ति जैसा नहीं है।) किन्तु उनके ठीक या गलत होने का कोई दार्शनिक महत्त्व नहीं है। यदि मूअर उन लोगों पर आक्षेप कर रहें हैं जिनका कहना है कि हमें ऐसी बातों का ज्ञान हो ही नहीं सकता, तो वह उनको यह कहकर आश्वस्त नहीं कर सकते कि उन्हें अमुक-अमुक बात ज्ञात है। मूअर पर विश्वास करना आवश्यक नहीं है। यदि उनके विरोधी यह कहते कि हम अमुक-अमुक बात पर विश्वास नहीं कर सकते तो मूअर यह उत्तर दे सकते थे : "मुझे इस पर विश्वास है।"

14.4

521. मूअर की गलती यह है कि — वे "हम उसे जान ही नहीं सकते" इस कथन का प्रत्युत्तर "मैं तो इसे जानता हूँ" कहकर देते हैं।

522. हम कहते हैं : यदि किसी बच्चे ने भाषा पर — और इसीलिए उसके प्रयोग पर — अधिकार प्राप्त कर लिया है तो उसे शब्दार्थ का ज्ञान होना ही चाहिए। उदाहरणार्थ, उसे निस्संदिग्ध रूप से वस्तुओं के रंग के अनुरूप श्वेत, श्याम, रक्त या नीला कहना आना चाहिए।

523. और वस्तुत : यहाँ संदेह का अभाव किसी को भी नहीं खटकता; इस बात से कोई भी चकित नहीं होता कि हम अपने शब्दार्थ के बारे में अनुमान भी नहीं लगाते।

15.4.

524. क्या हमारे भाषा-खेलों (उदाहरणार्थ, 'आदेश देना और उसका पालन करना') के लिए यह अनिवार्य है कि किन्हीं विशिष्ट बातों पर संदेह किया ही नहीं जा सकता, या फिर यही काफी है कि संदेह की गुंजाइश रहने पर भी हमें असंदिग्धता की अनुभूति हो?

यानी, क्या यही काफी है कि जिन वस्तुओं को मैं अभी सीधे-सीधे 'श्याम' 'हरित' 'रक्त' कहता हूँ, उन्हें ऐसा न कहकर — यह कहने लगूँ कि "मुझे निश्चय है कि वह रक्त है", जैसे हम कहते हैं कि "मुझे निश्चय है कि वह आज आएगा" (दूसरे शब्दों में 'निश्चयात्मकता' के साथ)?

बेशक, जैसे हम सहगामी अनुभूति के प्रति तटस्थ हैं, उसी प्रकार हमें "मुझे निश्चय है" जैसे शब्दों की परवाह करने की आवश्यकता नहीं है। — महत्त्वपूर्ण तो यह है कि उनसे भाषा के प्रयोग में कोई अन्तर पड़ता है या नहीं।

पूछा जा सकता है कि क्या ऐसा कहने वाला व्यक्ति उन सभी परिस्थितियों में (उदाहरणार्थ) जिनमें हमारे वर्णनों में निश्चितता का भाव हो (उदाहरणार्थ, किसी ऐसे प्रयोग, जिसमें, परखनली के माध्यम से देखने पर हमें दिखाई देने वाले रंगों का वर्णन देना हो) सदैव यह कहेगा कि "मैं आश्वस्त हूँ"। ऐसा कहने पर हम तुरन्त उसके कथन की जाँच करना चाहेंगे। किन्तु, उसके पूरी तरह ठीक निकलने पर हमें कहना पड़ेगा कि उसका बात करने का ढंग थोड़ा अटपटा है पर इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, हम यह मान सकते हैं कि उसने संशयवादी दार्शनिकों को हृदयंगम कर लिया है, और उनकी इस बात से आश्वस्त हो गया है कि हमें किसी भी बात का ज्ञान नहीं हो सकता और इसीलिए वह इस ढंग से बातचीत करता है। उसके वार्तालाप के ढंग के आदी होने पर हमारे व्यवहार पर कोई असर नहीं पड़ता।

525. उदाहरणार्थ, हमारे और किसी अन्य व्यक्ति के मध्य रंगों और उनके नामों के अन्त :सम्बन्ध को समझने में दृष्टिभेद होने की स्थिति में क्या होगा? यानी, जहाँ उनके रंगों और रंग-नाम-प्रयोग में थोड़े सन्देह, या संदेह की सम्भावना हो।

16.4.

526. ब्रिटेन में किसी डाक-पेटी को देखकर यदि कोई कहे "मुझे निश्चय है कि वह लाल रंग की है", तो हमें मानना पड़ेगा कि वह दृष्टिदोष से पीड़ित है, या फिर यह कि उसे हिन्दी का पर्याप्त ज्ञान नहीं है, और वह किसी अन्य भाषा में उस रंग का नाम जानता है।

यदि ये दोनों स्थितियां नहीं हैं तो हम उसकी बात समझ ही नहीं पाएंगे।

527. इस रंग को "लाल" कहने वाले हिन्दी-भाषी को 'इस बात का निश्चय नहीं है कि उस रंग को हिन्दी में "लाल" कहते हैं'।

इस शब्द-प्रयोग में कुशल शिशु को 'इस बात का निश्चय' नहीं होता 'कि उसकी भाषा में यह रंग.... कहलाता है'। न ही यह कहा जा सकता है कि बोलना सीखते समय ही वह यह भी सीख जाता है कि उस रंग को हिन्दी में यह कहते हैं; न ही यह कहा जा सकता है : शब्द के प्रयोग को सीखने पर वह इस बात को जान जाता है।

528. तिस पर भी : यह पूछने पर कि इस रंग को हिन्दी भाषा में क्या कहते हैं, यदि मेरे जवाब देने पर वह पूछता है "क्या आप आश्वस्त हैं?" — तो मैं उसे उत्तर देता हूँ "मैं इसे जानता हूँ; हिन्दी मेरी मातृ-भाषा है"।

529. उदाहरणार्थ, एक शिशु किसी अन्य शिशु के बारे में या फिर अपने ही बारे में कहेगा कि उसे पहले से ही ज्ञात है कि अमुक वस्तु का क्या अभिधान है।

530. मैं किसी को (उदाहरणार्थ, उसे हिन्दी सिखाते समय) कह सकता हूँ कि "इस रंग को हिन्दी में 'लाल' कहते हैं"। इस स्थिति में मुझे यह नहीं कहना चाहिए कि "मैं जानता हूँ कि इस रंग को...." — संभवतः, मैं ऐसा तभी कहूँगा जब मैंने इसे हाल ही में सीखा हो, या फिर मैं इसे तब कहूँगा जब मुझे उसकी किसी ऐसे रंग के नाम से तुलना करनी हो जिससे मैं अपरिचित हूँ।

531. किन्तु, क्या मेरी वर्तमान स्थिति का उचित विवरण निम्नलिखित नही होगा : मैं जानता हूँ कि इस रंग को हिन्दी में क्या कहते हैं? और यदि यह ठीक है तो मैं अपनी स्थिति का वर्णन उसके अनुरूप "मैं जानता हूँ इत्यादि" शब्दों द्वारा क्यों नहीं दे सकता?

532. अत :, जब मूअर पेड़ के सामने बैठे हुए कह रहे थे "मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है" तो वह उस समय की अपनी स्थिति का ठीक-ठीक विवरण ही दें रहे थे।

[अब मेरे दार्शनिक-चिन्तन की स्थिति उस बुढ़िया के समान है जो सदैव वस्तुओं को : कभी ऐनक को, कभी अपनी चाबियों को, गलत स्थान पर रख देती है और फिर उन्हें खोजती रहती है।]

533. यदि किसी संदर्भ के बिना उनकी स्थिति का वर्णन करना उचित था, तो सन्दर्भहीन "वह एक पेड़ है" शब्दों को कहना भी उतना ही उचित है।

534. किन्तु क्या यह कहना गलत है : "किसी भाषा-खेल में कुशल शिशु को कतिपय विशिष्ट बातें पता होनी चाहिएं"?

यदि इसके विपरीत कोई कहे "कुछ विशिष्ट बातें करने योग्य होना ही चाहिए" तो चाहे यह पुनरुक्ति ही हो, फिर भी मैं पहले वाले वाक्य का इससे प्रतिकार करना चाहूँगा। — किन्तु : "शिशु प्राकृतिक इतिहास का ज्ञान प्राप्त करता है"। इसकी पूर्वमान्यता यह है कि वह पूछ सकता है कि अमुक पौधे का क्या नाम है।

535. शिशु तभी किसी वस्तु का नाम जानता है जब वह इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर दे सके कि "उसे क्या कहते हैं?"।

536. यह स्वाभाविक ही है कि हाल ही में बोलना सीखने वाले शिशु को अभिधान प्रत्यय की समझ होती ही नहीं।

537. इस प्रत्यय को न समझने वाले व्यक्ति के बारे में क्या यह कहा जा सकता है कि वह जानता है कि अमुक वस्तु का क्या नाम है?

538. मैं कहना चाहूँगा कि शिशु अमुक-अमुक ढंग से प्रतिक्रिया करना सीखता है; और इस प्रकार की प्रतिक्रिया करते हुए वह कुछ भी नहीं जानता। जानना तो बाद की स्थिति है।

539. क्या जानना संग्रह करने जैसा है?

<u>540.</u> कुत्ता "**न**" की और "**म**" की आवाजें सुन कर **न** और **म** के पास जाना सीख जाता है, परन्तु इसका यह तो अभिप्राय नहीं कि कुत्ता उनके नाम जानता है?

<u>541.</u> "वह इस व्यक्ति के नाम को तो जानता है — परन्तु उस व्यक्ति के नाम को नहीं"। यह बात हम उस व्यक्ति के बारे में तो कह ही नहीं सकते जो अभिधान के प्रत्यय से अनभिज्ञ है।

<u>542.</u> "यह जाने बिना कि इस रंग को 'लाल' कहते हैं मैं इस फूल का वर्णन नहीं : दे सकता।"

<u>543.</u> "मैं इसका नाम जानता हूँ; मैं अभी तक उसका नाम नहीं जानता" यह कह सकने की स्थिति से पूर्व शिशु लोगों के नामों का प्रयोग कर सकता है।

<u>544.</u> बेशक (उदाहरणार्थ), ताज़े खून को इंगित करते हुए मैं सच्चाई से कह सकता हूँ कि "मैं जानता हूँ कि इस रंग को हिन्दी में क्या कहते हैं"। किन्तु — — —

17.4.

<u>545.</u> 'शिशु जानता है कि "नीला" शब्द किस रंग का द्योतक है।' उसकी जानकारी इतनी सरल नहीं है।

<u>546.</u> यदि, उदाहरणार्थ, प्रश्न किसी ऐसे रंग का हो जिसका नाम सभी नहीं जानते, तो मुझे कहना चाहिए कि "मैं इस रंग का नाम जानता हूँ"।

<u>547.</u> "लाल" और "नीला" शब्दों को हाल ही में बोलना और प्रयोग करना आरम्भ करने वाले शिशु को हम यह नहीं कह सकते : "बताओ, तुम तो इस रंग का नाम जानते हो!"।

<u>548.</u> किसी रंग का नाम पूछने से पहले शिशु को रंग-शब्दों के प्रयोग को सीखना पड़ता है।

549. यह कहना गलत होगा कि किसी आराम-कुर्सी के विद्यमान रहने पर ही मैं यह कह सकता हूँ कि “मैं जानता हूँ कि वह एक आराम-कुर्सी है”। बेशक आराम-कुर्सी की अविद्यमानता में मेरा यह कहना सत्य नहीं होगा, किन्तु यदि मैं निश्चित हूँ कि वह एक कुर्सी है तो चाहे मैं गलती पर भी क्यों न होऊँ मुझे ऐसा कहने का अधिकार है।

[दार्शनिक की चिन्तन-क्षमता में उसकी महत्त्वाकांक्षा बाधक है।]

18.4.

550. जब कोई किसी बात पर विश्वास करता है तब हम सदैव इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते ‘वह उस पर विश्वास क्यों करता है?’; किन्तु यदि वह किसी बात को जानता है तो इस प्रश्न का उत्तर होना ही चाहिए कि “वह कैसे जानता है?”।

551. इस प्रश्न के उत्तर की स्थिति में वह उत्तर सामान्य रूप में स्वीकृत मान्यताओं के अनुकूल होना चाहिए। ऐसी बात को ऐसे ही जाना जाता है।

552. क्या मैं जानता हूँ कि मैं इस समय आराम-कुर्सी पर बैठा हूँ? — क्या मैं यह नहीं जानता?! वर्तमान परिस्थितियों में कोई भी यह नहीं कहेगा कि मैं इसे जानता हूँ; किन्तु, उदाहरणार्थ, कोई यह भी नहीं कहेगा कि मैं जीवित हूँ। साधारणतः, सड़क पर जाने वाले व्यक्तियों के बारे में भी कोई ऐसा नहीं कहेगा।

किन्तु ऐसा न कहने के कारण क्या यह बात असत्य हो जाती है?

553. यह अजीब बात है : जब मैं बिना किसी विशेष अवसर के कहता हूँ कि “मैं जानता हूँ” — उदाहरणार्थ “मैं जानता हूँ कि इस समय मैं कुर्सी पर बैठा हुआ हूँ”, तो यह कथन मुझे अनुचित एवं धृष्ट लगता है। किन्तु जब मैं यही कथन किसी ऐसी स्थिति में कहता हूँ जहाँ इसकी आवश्यकता होती है तो इसकी सत्यता के बारे में किसी अतिरिक्त निश्चितता के बिना भी यह कथन पूर्णत : उचित और सामान्य लगता है।

554. अपने भाषा-खेल में यह कथन धृष्ट नहीं है। वहाँ इसकी स्थिति साधारण मानवीय भाषा-खेल से अधिक नहीं है। क्योंकि वहाँ इसका सीमित प्रयोग है।

किन्तु संदर्भ के बिना यह वाक्य अविलम्ब कृत्रिम लगने लग जाता है। क्योंकि तब ऐसा लगने लगता है मानो मैं आग्रह कर रहा होऊँ कि कुछ ऐसी वस्तुएं हैं जिन्हें मैं जानता हूँ। उनके बारे में ईश्वर भी मुझे कुछ बतला नहीं सकता।

19.4.

555. हम कहते हैं कि हम जानते हैं कि आग पर रखने से पानी खौलता है। हम कैसे जानते हैं? अनुभव ने हमें यह सिखाया है। — मैं कहता हूँ "मैं जानता हूँ कि आज सुबह मैंने नाश्ता किया था"; अनुभव ने मुझे यह नहीं सिखाया। हम यह भी कहते हैं : "मैं जानता हूँ कि उसे पीड़ा हो रही है"। हर बार भाषा-खेल भिन्न है, हर बार हम सुनिश्चित होते हैं, और लोग भी हमसे सहमत होते हैं कि हर बार हम जानने की स्थिति में हैं। यही कारण है कि भौतिक-शास्त्र की प्रतिज्ञप्तियां आम पाठ्य-पुस्तकों में पायी जाती है।

जब कोई कहता है कि वह कुछ जानता है, तो वह कोई ऐसी बात होनी चाहिए जिसके बारे में आम राय हो कि वह जानने की स्थिति में है।

556. हम यह नहीं कहते : वह इस पर विश्वास करने की स्थिति में है।

किन्तु, हम कहते ही हैं : "इस परिस्थिति में यह मानना (या "इस पर विश्वास करना") उचित है"।

557. अमुक स्थिति में अमुक बात को (चाहे वह गलत ही क्यों न हो) विश्वासपूर्वक मानने के औचित्य का निर्णय तो कोर्ट-मार्शल द्वारा ही किया जा सकता है।

558. हम कहते हैं, हम जानते हैं कि अमुक परिस्थितियों में पानी खौलता है बर्फ का रूप नहीं लेता। क्या हमारे गलत होने की कल्पना की जा सकती है? क्या किसी गलती से हमारा संपूर्ण विवेक ही नहीं गड़बड़ा जाएगा? या फिर : यदि यही गलत होगा तो फिर ठीक क्या होगा? क्या कोई ऐसी बात खोज पाएगा जिसके कारण हमें कहना पड़े : "यह गलती थी"?

भविष्य में चाहे कुछ भी हो, पानी की कोई भी गति हो, — हम जानते हैं कि अब तक अनगिनत बार उसकी यही गति हुई है।

यह तथ्य हमारे भाषा-खेल के आधार में रच-बस गया है।

559. आपको यह याद रखना चाहिए कि भाषा-खेल अननुमेय है। मेरा अभिप्राय है : यह आधारों पर टिका हुआ नहीं है। यह उचित (अथवा अनुचित) नहीं होता।

इसका अस्तित्व है — हमारे जीवन के समान।

560. और जानने का प्रत्यय भाषा-खेल के प्रत्यय से जुड़ा है।

561. "मैं जानता हूँ" और "आप इस पर भरोसा कर सकते हैं"। किन्तु उत्तर कथन को पूर्वकथन से बदला नहीं जा सकता।

562. किसी ऐसी भाषा की कल्पना तो करनी ही होगी जिसमें 'ज्ञान' का हमारा प्रत्यय न हो।

563. ठोस आधारों के अभाव में भी हम कहते हैं "मैं जानता हूँ कि वह वेदना-ग्रस्त है"। — क्या यह ऐसा कहना है "मुझे निश्चय है कि वह...."? — नहीं। "मुझे निश्चय है" कहने से आपको मेरी मनोगत निश्चयात्मकता का पता चलता है। "मैं जानता हूँ" कहने का अभिप्राय यह है कि जानकार मैं और गैरजानकार अन्य व्यक्ति में (संभवत : अनुभव की कोटि में भेद पर आधारित) भिन्नता का कारण जानकारी का भेद है।

गणित में जब मैं कहता हूँ “मैं जानता हूँ” तो उसका औचित्य कोई उपपत्ति होती है।

यदि इन दोनों स्थितियों में “मैं जानता हूँ” कहने के बजाय हम कहते हैं “आप इस पर विश्वास कर सकते हैं” तो दोनों के प्रमाण का स्वरूप ही भिन्न हो जाता है।

प्रमाण की भी कोई सीमा होती है।

564. कोई भाषा खेल : ईंटों को लाना, उपलब्ध ईंटों की संख्या बताना। इस संख्या का कभी तो हिसाब लगाया जाता है, और कभी गिन कर बताया जाता है। फिर प्रश्न उठता है : “क्या आपकी मान्यता है कि ईंटें इतनी हैं?” और इसका उत्तर होता है “मैं जानता हूँ कि ईंटें इतनी हैं — मैंने उन्हें हाल ही में गिना है”। किन्तु यहाँ “मैं जानता हूँ” कथन का परित्याग किया जा सकता है। बहरहाल, यदि किसी बात को सुनिश्चित करने के अनेक तरीके हों, जैसे गिनना, तौलना, चट्टे की नपाई करना, तो “मैं जानता हूँ” कथन को हम कैसे जानते हैं से प्रतिस्थापित किया जा सकता है।

565. किन्तु यहाँ इसे “पट्टिका” इसे “स्तम्भ” इत्यादि कहते हैं इस ‘ज्ञान’ का प्रश्न ही नहीं उठता।

566. न ही मेरा भाषा-खेल (नम्बर 2)[6] सीखने वाला शिशु यह कहना सीखता है कि “मैं जानता हूँ कि इसे ‘पट्टिका’ कहते हैं।”

बेशक, ऐसा भाषा-खेल होता है जिसमें शिशु उस वाक्य का प्रयोग करता है। ऐसे खेल की यह पूर्वापेक्षा है कि शिशु नाम के साथ ही उसके प्रयोग में भी समर्थ हो जाता है। (मानो कोई मुझे कहे “इस रंग को.... कहते हैं”।) — अतः, यदि शिशु ने ईंट का भाषा-खेल सीखा है, तो हम कुछ ऐसा कह सकते हैं “और इस ईंट को ‘...’ कहते हैं”, और इस प्रकार मूल भाषा-खेल का विस्तार होता है।

567. और अब, क्या मेरा यह ज्ञान कि मुझे **लु.वि.** कहते हैं, मेरे इस ज्ञान जैसा है कि पानी 100° से. पर उबलता है? बेशक प्रश्न पूछने का यह ढंग ही गलत है।

568. यदि मेरा कोई नाम कभी-कभार ही प्रयुक्त किया जाए तो यह सम्भावना है कि मैं उसे न जानूँ। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मैं अपना नाम जानता हूँ क्योंकि अन्य लोगों की तरह मैं भी उसका बारम्बार प्रयोग करता हूँ।

569. आन्तरिक अनुभव यह नहीं बतलाता कि मैं किसी बात को जानता हूँ।

अतः, "मैं जानता हूँ कि मेरा नाम...." मेरे ऐसा कहने पर भी स्पष्टतः यह कोई आनुभविक प्रतिज्ञप्ति नहीं होती, — — —।

570. "मैं जानता हूँ कि यह मेरा नाम है; हम में से प्रत्येक वयस्क अपना नाम जानता है।"

571. "मेरा नाम.... है — आप इस पर भरोसा कर सकते हैं। यदि यह गलत निकले तो भविष्य में आप कभी भी मुझ पर भरोसा न करें।"

572. क्या मैं नहीं जानता कि मैं अपना नाम जानने जैसी बात के बारे में गलती नहीं कर सकता?

यह इन शब्दों से प्रदर्शित होता है : "यदि वह गलत है तो मैं पागल हूँ।" हाँ, पर वे तो शब्द हैं; किन्तु भाषा के प्रयोग पर इसका क्या प्रभाव है?

573. क्या इसका कारण यह है कि मैं इससे विपरीत किसी भी बात पर विश्वास कर ही नहीं सकता?

574. प्रश्न तो यह है कि यह प्रतिज्ञप्ति किस प्रकार की है : "मैं जानता हूँ कि इस बारे में मैं गलती नहीं कर सकता", या फिर "मैं इस बारे में गलती नहीं कर सकता"?

“मैं जानता हूँ” यह अभिव्यक्ति आधार रहित प्रतीत होती है : मैं तो सिर्फ इसे जानता हूँ। किन्तु, यदि यहाँ गलती करना सम्भव हो, तो मेरे ज्ञान की जाँच भी संभव होनी चाहिए।

575. अत :, “मैं जानता हूँ” अभिव्यक्ति का उद्देश्य मेरी विश्वसनीयता को इंगित करना हो सकता है। किन्तु जहाँ यह मेरी विश्वसनीयता इंगित करती है वहाँ अनुभव से इस संकेत की उपयोगिता का पता चलता है।

576. हम कह सकते हैं, “मैं कैसे जानता हूँ कि मैं अपने नाम के बारे में गलती नहीं कर रहा?” — और इसका यह उत्तर होने पर “मैंने इसका कई बार प्रयोग किया है” मैं पूछ सकता हूँ “मैं कैसे जानता हूँ कि मैं इस बारे में गलती नहीं कर रहा?” पर यहाँ “मैं कैसे जानता हूँ” अभिव्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

577. “अपने नाम के बारे में मेरा ज्ञान सुनिश्चित है।”

इससे विपरीत किसी भी युक्ति पर मैं ध्यान नहीं दूँगा।

और “मैं ध्यान नहीं दूँगा” अभिव्यक्ति का क्या अर्थ होता है? क्या यह किसी इच्छा की अभिव्यक्ति है?

578. किन्तु क्या कोई विद्वान् मुझे यह नहीं बतला सकता कि मैं सत्य को नहीं जानता? ताकि मैं उससे कहूँ “मेरी आँखें खोलिए”? किन्तु तब मुझे अपनी आँखों को खोलना पड़ेगा।

579. प्रत्येक व्यक्ति का अपने नाम को भली-भाँति जानना व्यक्तिनामवाची भाषा-खेल का अंग है।

20.4.

580. ऐसा तो हो ही सकता है कि जब भी मैं “मैं जानता हूँ” कहूँ, वह गलत निकले। (प्रदर्शन करना)

581. किन्तु, हो सकता है कि मैं फिर भी अपने आपको रोक न पाऊँ और "मैं जानता हूँ...." कहता रहूँ। किन्तु अपने आप से पूछें : इस अभिव्यक्ति को शिशु ने कैसे सीखा?

582. "मैं जानता हूँ" का यह अर्थ हो सकता है : मैं इससे पहले से परिचित हूँ — या फिर : ऐसा ही है।

583. "मैं जानता हूँ कि.... में इसका नाम '....' है।" — आप कैसे जानते हैं? — "मैंने.... सीखा है"।

इस उदाहरण में ".... में इसका नाम '....' है" के स्थान पर क्या मैं "जानता हूँ इत्यादि" अभिव्यक्ति का प्रयोग कर सकता हूँ?

584. क्या किसी साधारण कथन के बाद "जानना" क्रिया को "आप कैसे जानते हैं?" प्रश्न में ही प्रयोग करना संभव होगा? — "मैं पहले से ही उसे जानता हूँ" यह कहने के बजाय हम "मैं उससे परिचित हूँ" कहते हैं; और यह उस तथ्य के बताए जाने पर ही होता है। किन्तु[7] "मैं जानता हूँ कि वह क्या है" के बदले हम क्या कहें?

585. किन्तु क्या "मैं जानता हूँ कि वह एक पेड़ है" यह अभिव्यक्ति "वह एक पेड़ है" इस अभिव्यक्ति से कोई भिन्न बात नहीं कहती?

586. "मैं जानता हूँ कि वह क्या है" कहने के बजाय हम "मैं बतला सकता हूँ कि वह क्या है" कह सकते हैं। पर इस अभिव्यक्ति के आकार को अपनाने पर "मैं जानता हूँ कि वह एक...." इस अभिव्यक्ति का क्या होगा?

587. पुन : इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि क्या "मैं जानता हूँ कि वह एक...." अभिव्यक्ति "वह एक...." इस अभिव्यक्ति से कुछ भिन्न बात बताती है। पूर्व वाक्य में एक व्यक्ति का उल्लेख है किन्तु उत्तर वाक्य में किसी व्यक्ति का उल्लेख नहीं है। किन्तु इससे यह पता नहीं चलता कि दोनों के अर्थ भिन्न हैं।

सभी प्रयोगों में हम पहले वाक्य को दूसरे वाक्य से प्रतिस्थापित कर देते हैं, और उत्तर वाक्य को एक विशेष अन्दाज में कहते हैं। चूँकि अविरोधी कथन और विरोधी कथन को कहने का अन्दाज ही भिन्न होता है।

588. किन्तु, क्या मैं "मैं जानता हूँ कि...." शब्दों का प्रयोग किसी मनःस्थिति को अभिव्यक्त करने के लिए नहीं करता, जबकि "वह एक.... है" कथन से वह अभिव्यक्ति नहीं होती? पर फिर भी बहुधा इस कथन का उत्तर यह प्रश्न पूछ कर दिया जाता है "आप कैसे जानते हैं?" — "पर इसका कारण यही है कि मेरी जानकारी की स्थिति मेरे कथन से ज्ञात होती है।" — इस बात को निम्नलिखित ढंग से कहा जा सकता है : चिड़ियाघर में ऐसी सूचना लिखी हो सकती है : "यह एक ज़ेबरा है"; किन्तु ऐसी सूचना कभी नहीं हो सकती "मैं जानता हूँ कि यह एक ज़ेबरा है"।

किसी व्यक्ति द्वारा उच्चारित होने पर ही "मैं जानता हूँ" का अर्थ होता है, किन्तु, तभी जब "मैं जानता हूँ...." अथवा "वह एक.... है" के उच्चारण के प्रति

समभाव हो।

589. क्योंकि, कोई व्यक्ति जानकारी की अपनी मनःस्थिति को पहचानना कैसे सीखता है?

590. "मैं जानता हूँ कि वह क्या है" ऐसी स्थितियों के कथन में ही हम मनःस्थिति को पहचानने की बात कर सकते हैं। इनमें हम अपने आपको आश्वस्त कर सकते हैं कि हमें यह ज्ञात है।

591. "मैं जानता हूँ कि वह कौनसा पेड़ है। — वह पाँगर (चेस्टनट) है।"

"मैं जानता हूँ कि वह कौनसा पेड़ है। — मैं जानता हूँ कि वह पाँगर (चेस्टनट) है।"

पूर्व कथन उत्तर कथन से अधिक सहज लगता है। हम दूसरी बार “मैं जानता हूँ” तभी कहते हैं जब हम अपने निश्चित होने पर बल देना चाहते हैं; संभवत : विरोध की प्रत्याशा में पहले “मैं जानता हूँ” का अर्थ कमोबेश होता है : मैं बता सकता हूँ।

किन्तु, किसी अन्य स्थिति में हम आरंभ में कह सकते हैं कि “वह एक है”, और इसका विरोध किए जाने पर प्रत्युत्तर यह कह कर दे सकते हैं : “मैं जानता हूँ कि वह कौनसा पेड़ है”, और ऐसा करके हम अपने निश्चित होने को रेखांकित कर सकते हैं।

592. “मैं आपको बतला सकता हूँ कि वह कौनसा.... यानी, इसके बारे में कोई संदेह नहीं है।”

593. जहाँ हम “मैं जानता हूँ” अभिव्यक्ति को “यह एक.... है” अभिव्यक्ति से प्रतिस्थापित कर सकते हैं वहाँ भी हम एक के निषेध को दूसरे के निषेध से प्रतिस्थापित नहीं कर सकते।

“मैं नहीं जानता कि....” अभिव्यक्ति के आते ही हमारे भाषा-खेल में एक नया घटक प्रवेश कर जाता है।

594. मेरा नाम **लु.वि.** है। इसके बारे में बखेड़ा खड़ा करने पर मैं इससे संबंधित इतने प्रमाण जुटा दूँगा जिससे इसके बारे में कोई सन्देह नहीं रहेगा।

595. “किन्तु फिर भी मैं ऐसे व्यक्ति की कल्पना कर सकता हूँ जो इन सब बातों को समझे किन्तु फिर भी वास्तविकता को न समझे। मैं भी ऐसी स्थिति में क्यों नहीं हो सकता?”

ऐसे व्यक्ति की कल्पना करने में मैं एक वास्तविकता की, उसके चारों ओर विद्यमान संसार की भी कल्पना करता हूँ; और मैं यह कल्पना भी करता हूँ कि वह इस संसार के विरुद्ध सोच (और बोल) रहा है।

596. जब कोई मुझे बताता है कि उसका नाम न. न. है तो मेरा उसे "क्या आप गलती कर सकते हैं?" पूछना सार्थक हो सकता है। भाषा-खेल में यह प्रश्न पूछा जा सकता है। और इसका सकारात्मक अथवा नकारात्मक उत्तर सार्थक होता है। — बेशक, यह उत्तर भी अचूक नहीं होता, यानी, किसी समय इसमें चूक हो सकती है, पर फिर भी इससे "क्या आप.... हो सकते हैं" प्रश्न और इसका "निषेधात्मक" उत्तर निरर्थक नहीं हो जाता।

597. "क्या आप गलती कर सकते हैं?" प्रश्न का उत्तर इस कथन को वज़नदार बना देता है। यह भी उत्तर हो सकता है : "मेरे विचार में गलती नहीं कर सकते।"

598. किन्तु "क्या आप...." प्रश्न का उत्तर यह कहकर नहीं दिया जा सकता : "मैं स्थिति का वर्णन कर देता हूँ, फिर आप स्वयं ही इस संबंध में निर्णय कर लें कि मैं गलती कर सकता हूँ या नहीं"?

उदाहरणार्थ, जब प्रश्न किसी के अपने नाम के बारे में हो तो यह संभव है कि उसने कभी भी इस नाम का प्रयोग न किया हो, किन्तु किन्हीं दस्तावेजों में उसे इस नाम को पढ़ने की स्मृति हो, — दूसरी ओर यह भी उत्तर हो सकता है : "तमाम उम्र मेरा यही नाम रहा है; सभी लोग मुझे इसी नाम से पुकारते हैं।" यदि यह उत्तर "मैं गलती नहीं कर सकता" उत्तर के समकक्ष नहीं है, तो बाद का कथन पूरी तरह निरर्थक हो जाएगा। पर फिर भी यह महत्त्वपूर्ण भेद को इंगित करता है।

599. उदाहरणार्थ, लगभग 100° से. पर पानी खौलता है इस प्रतिज्ञप्ति की निश्चितता का वर्णन किया जा सकता है। यह कोई ऐसी प्रतिज्ञप्ति नहीं है जिसे मैंने सुना हो (कई अन्य प्रतिज्ञप्तियों की तरह जिनका मैं उल्लेख कर सकता हूँ)। पाठशाला में मैंने स्वयं यह प्रयोग किया है। हमारी पाठ्य पुस्तकों की यह एक अत्यधिक प्रारंभिक प्रतिज्ञप्ति है, और ऐसे मामलों में हमें अपनी पाठ्य-पुस्तकों पर विश्वास करना पड़ता है क्योंकि....। — अब हम इससे उलट ऐसे उदाहरण दे सकते हैं जिनसे यह पता चलता है कि मनुष्यों ने कई बातों को

सुनिश्चित माना जो बाद में, हमारे अनुसार, गलत सिद्ध हुईं। किन्तु यह युक्ति बेकार[8] है। यह कहना तो कुछ भी कहना नहीं है कि : अन्ततोगत्वा हम उन्हीं आधारों का उल्लेख करते हैं जिन्हें हम आधार मानते हैं।

मेरा मानना है कि हमारे भाषा-खेलों की प्रकृति के बारे में गलतफहमी ही इसका आधार है।

600. प्रयोगात्मक भौतिकी की पाठ्य-पुस्तकों पर विश्वास करने के मेरे आधार किस प्रकार के हैं?

उन पर विश्वास न करने के मेरे पास कोई आधार नहीं हैं। और मैं उन पर विश्वास करता हूँ। मैं जानता हूँ — या फिर यह मेरा विश्वास ही है कि मैं जानता हूँ कि उन पुस्तकों को कैसे लिखा जाता है। मेरे पास कुछ छिटपुट प्रमाण हैं, पर उनसे यह पूर्णत : सिद्ध नहीं होता। मैंने अनेक बातों को देखा, सुना और पढ़ा है।

22.4.

601. किसी अभिव्यक्ति के अर्थ की जिज्ञासा में, उसकी प्रयोग प्रणाली पर सदैव विचार करने के बजाय उसी अभिव्यक्ति और उसके प्रयोग के समय की मन :स्थिति पर ध्यान केन्द्रित करने का खतरा सदैव बना रहता है। यही कारण है कि हम अभिव्यक्ति को बारम्बार दोहराते हैं, मानो इससे हमें पता चल जाएगा कि अभिव्यक्ति में तथा उस अनुभूति में जो हमें उससे होती है हम क्या खोज रहे हैं।

23.4.

602. मुझे क्या कहना चाहिए “मैं भौतिक-शास्त्र पर विश्वास करता हूँ”, अथवा “मैं जानता हूँ कि भौतिक-शास्त्र प्रामाणिक है”?

603. मुझे सिखाया गया है कि अमुक परिस्थितियों में ऐसा घटता है। अनेक प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है। यदि यह अनुभव दूसरे अनुभवों से इस प्रकार जुड़ा न हो जिससे एक तन्त्र बनता हो, तो उस अवस्था में कुछ सिद्ध नहीं होगा। इस

प्रकार वैज्ञानिकों ने केवल नीचे गिरती हुई वस्तुओं के बारे में ही प्रयोग नहीं किए अपितु वायु-प्रतिरोध संबंधी, और अनेक अन्य बातों से सम्बन्धित प्रयोग भी किए।

पर अन्ततोगत्वा मैं इन अनुभवों पर या उनकी रिपोर्ट पर भरोसा करता हूँ, और अपनी गतिविधियों को उनके अनुरूप ढालने में मुझे कोई संकोच नहीं होता। — किन्तु क्या मेरा ऐसा विश्वास स्वयंसिद्ध नहीं है? जहाँ तक मैं सोचता हूँ — हाँ।

604. भौतिक-शास्त्री के इस कथन को कि पानी लगभग 100° से. पर खौलता है न्यायालय निरुपाधिक सत्य मानेगा।

यदि मैं इस कथन पर विश्वास न करूँ तो मुझे इसे छोड़ने के लिए क्या करना होगा? स्वयं प्रयोग करूँ? उनसे क्या सिद्ध होगा?

605. किन्तु, यदि भौतिक-शास्त्री का कथन अंधविश्वास निकले तथा निर्णय पर पहुँचने के लिए उसे कसौटी मानना बेतुका हो तो क्या हो?

606. मेरे विचार में किसी अन्य व्यक्ति के गलती करते रहने से मेरे अब तक के गलत व्यवहार को आधार नहीं मिल जाता। — किन्तु क्या यह इस मान्यता का आधार नहीं होता कि मैं गलती कर सकता हूँ? मेरे किसी निर्णय का अथवा मेरे क्रियाकलापों की अनिश्चितता का कोई आधार नहीं हो सकता।

607. कोई निर्णायक तो यह भी कह सकता है "जहाँ तक मुनष्य इसे जान सकते हैं, मनुष्यों के लिए — यही सत्य है" किन्तु इस संशोधन से क्या मिलेगा? ("उचित संशय से परे")।

608. भौतिक-शास्त्र की प्रतिज्ञप्तियों द्वारा अपने व्यवहार को संचालित करना क्या मेरी भूल होगी? क्या मुझे कहना होगा कि मेरे पास इसका कोई आधार नहीं है? क्या इसी को हम "उत्तम आधार" नहीं कहते?

609. मान लीजिए कि हम ऐसे लोगों से मिलें जो इसे उचित कारण न मानते हों। पर हम इसकी कल्पना कैसे कर सकते हैं? भौतिक-शास्त्री के बजाए वे किसी साधु-महात्मा से मन्त्रणा करते हैं। (और इसीलिए हम उन्हें आदिम मानते हैं।) क्या उनका सयानों से मन्त्रणा करना और उनकी सलाह पर चलना गलत हैं? — यदि हम उन्हें "गलत" कहते हैं तो क्या हम अपने भाषा-खेल को उनके भाषा-खेल का मुकाबला करने का आधार नहीं बनाते?

610. और क्या उसका मुकाबला करना सही है या गलत? बेशक हमारी कार्यवाही के समर्थन में अनेक प्रकार की बातें कही जाएंगी।

611. जब भी दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का वास्तविक टकराव होता है तब दोनों एक दूसरे को बेवकूफ और पागल कहते हैं।

612. मैंने कहा कि मैं दूसरे व्यक्ति का 'मुकाबला' करूँगा, — किन्तु, क्या मैं उसे युक्ति नहीं दूँगा? निश्चय ही मैं उसे युक्ति दूँगा; किन्तु उनसे हम कितनी दूर जा सकेंगे? अन्ततोगत्वा युक्ति के बाद समझाना पड़ता है। (मिशनरियों द्वारा आदिम लोगों के धर्म परिवर्तन की स्थिति पर विचार करें।)

613. यदि अब मैं कहूँ "मैं जानता हूँ कि आँच पर रखी केतली में भरा पानी खौलेगा न कि जमेगा", तो "मैं जानता हूँ" अभिव्यक्ति के प्रयोग का औचित्य किसी भी प्रयोग जैसा होता है। 'यदि मैं कुछ भी जानता हूँ तो मैं इसे जानता हूँ।' — अथवा, क्या इससे भी अधिक निश्चितता से मैं जानता हूँ कि मेरे सामने बैठा व्यक्ति मेरा अमुक मित्र है? और इसकी तुलना इस बात से कैसे होगी कि मैं दो आँखों से देखता हूँ और दर्पण में देखने पर वे मुझे दिखाई देंगी? — मैं निश्चयपूर्वक इसका उत्तर नहीं दे सकता। — किन्तु फिर भी इन स्थितियों में भेद तो है। आँच पर रखे पानी के जम जाने पर बेशक मैं स्तंभित हो जाऊँगा, किन्तु इसके लिए किसी अनजाने कारण की कल्पना करूँगा और संभवत : इस मामले को भौतिक-शास्त्रियों के निर्णय के लिए छोड़ दूँगा। किन्तु, मेरे सामने बैठा व्यक्ति वर्षों से मेरा परिचित **न. न.** है इस बात पर मैं क्योंकर संदेह करूँगा? इस पर संदेह करने से सभी बातें संदेहास्पद हो जाएंगी और सब कुछ गड़बड़ा जाएगा।

614. यानी : यदि चारों ओर मेरा विरोध हो और मुझे बताया जाए कि इस व्यक्ति का नाम वह नहीं है जिसे मैं सदा से जानता हूँ (और मैं यहाँ "जानना" शब्द का प्रयोग जान-बूझकर कर रहा हूँ), तो मेरे सभी निर्णयों का आधार ही मुझसे छिन जायेगा।

615. तो क्या इसका अर्थ है : "मैं निर्णय इसीलिए कर पाता हूँ कि वस्तुएँ इस प्रकार व्यवहार करती हैं (मानो वे सम्यग्-व्यवहार करती हैं)"?

616. तथ्यों के अत्यधिक उलट-पलट जाने पर भी मेरा अपनी बातों पर अड़े रहना अकल्पनीय क्यों है?

617. कुछ घटनाएँ मुझे ऐसी परिस्थिति में डाल देती हैं जिसमें मेरा पुराने भाषा-खेल से काम नहीं चल पाता। उस स्थिति में मेरा भाषा की निश्चितता से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

वस्तुतः, क्या यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता कि भाषा-खेल की संभावना विशिष्ट तथ्यों पर निर्भर करती है?

618. उस स्थिति में ऐसा लगता है मानो किसी भाषा-खेल को अपने आधार 'प्रदर्शित' करने होंगे। (किन्तु ऐसा नहीं है।)

तो, क्या यह कहा जा सकता है कि घटनाओं की नियमितता ही आगमनात्मक विधि को संभावित बनाती है? बेशक, 'संभावना' को 'तार्किक संभावना' होना होगा।

619. क्या मुझे कहना होगा : प्राकृतिक परिस्थितियों की अनियमितता की स्थिति में भी मुझे अपनी बात से डिगना नहीं पड़ेगा? ऐसा होने पर भी मैं पहले की तरह अनुमान लगा सकता हूँ, किन्तु यह एक अलग बात है कि उसे "आगमनात्मक विधि" कहना उचित होगा या नहीं।

620. विशिष्ट परिस्थितियों में हम कहते हैं “आप इस पर भरोसा कर सकते हैं”; और हमारी आम भाषा में यह आश्वासन उचित अथवा अनुचित हो सकता है, यहाँ तक कि बताई गई बात के न घटने पर भी इसे उचित कहा जा सकता है। इस आश्वासन के प्रयोग करने वाले भाषा-खेल का अस्तित्व होता है।

24.4.

621. शरीर-रचना की विवेचना में मैं कहूँगा : “मैं जानता हूँ कि मस्तिष्क से द्वादश-स्नायु-युग्म निकलते हैं।” मैंने कभी भी इन स्नायुओं को नहीं देखा, और विशेषज्ञों ने भी उन्हें कुछ नमूनों में ही देखा होगा। — यहाँ “जानना” शब्द का उचित प्रयोग ऐसे ही किया जाता है।

622. किन्तु, क्या मूअर द्वारा उल्लेख किए गए संदर्भों में, कम से कम विशिष्ट परिस्थितियों में, भी “मैं जानता हूँ” का प्रयोग उचित है? (वस्तुतः मैं नहीं जानता कि “मैं जानता हूँ कि मैं एक मनुष्य हूँ” अभिव्यक्ति का क्या अर्थ होता है। किन्तु इसे भी सार्थक बनाया जा सकता है।)

क्योंकि मैं ऐसी परिस्थितियों की कल्पना कर सकता हूँ जिनमें इनमें से प्रत्येक वाक्य हमारे भाषा-खेलों में से किसी एक भाषा-खेल का अंग बन जाएगा, और फिर उससे समस्त दार्शनिक-चमत्कार लुप्त हो जाएंगे।

623. यह अटपटी बात ही है कि ऐसी स्थिति में मैं सदैव कहना चाहता हूँ (चाहे यह गलत है) : “जहाँ तक इस बात को जानना संभव है — मैं इसे जानता हूँ।” यह गलत है किन्तु इसके पीछे कोई ठीक बात छिपी है।

624. “हिन्दी में इस रंग को ‘हरा’ कहने में क्या आप गलती कर सकते हैं?” मैं इस प्रश्न का उत्तर “नहीं” में ही दे सकता हूँ। यदि मेरा उत्तर हो : “हाँ, क्योंकि भ्रम की संभावना सदा रहती ही है” तो यह निरर्थक बात होगी।

क्या कोई इस संशोधन से अनभिज्ञ है? और मुझे इसका कैसे पता चलता है?

625. किन्तु, क्या यह अकल्पनीय है कि यहाँ पर "हरा" शब्द जुबान फिसलने अथवा क्षणिक भ्रांति के कारण कहा गया है? क्या हम ऐसी स्थितियों से अनभिज्ञ हैं? — हम किसी को कह सकते हैं कि "कहीं आप भूल तो नहीं कर रहे?" इसका अर्थ है : "इस पर पुनर्विचार कीजिए"। —

किन्तु सावधानी बरतने के ये नियम अपनी सीमा में ही सार्थक होते हैं।

अन्तहीन संशय, संशय होता ही नहीं।

626. यह कहने का भी कोई अर्थ नहीं होता : "यदि मेरी जुबान फिसल न गई हो, या मैं भ्रान्त न होऊँ तो हिन्दी में इस रंग का नाम निश्चित रूप से 'हरा' होता है।"

627. क्या हमें सभी भाषा-खेलों में इस शर्त को स्थान नहीं देना होगा? (जिससे इसकी निरर्थकता का पता चलता है।)

628. जब हम कहते हैं कि "कुछ प्रतिज्ञप्तियों को संशय से परे रखना चाहिए" तो ऐसा लगता है कि मुझे **लु. वि.** कहते हैं जैसी प्रतिज्ञप्तियों को तर्क-शास्त्र की पुस्तक में ही रखना होगा। क्योंकि यदि यह भाषा-खेल के विवरण से संबंधित है, तो यह तर्क-शास्त्र का विषय है। किन्तु मुझे **लु. वि.** कहते हैं इसका किसी भी ऐसे विवरण से सम्बन्ध नहीं है। अपने नाम के बारे में मेरे गलती करने पर भी, लोगों के नामों पर लागू होने वाला भाषा-खेल निश्चित रूप से संभव है, — किन्तु इसकी पूर्वमान्यता है कि यह कहना निरर्थक है कि अधिकांश लोग अपने नामों के संबंध में भूल करते हैं।

629. दूसरी ओर, अपने बारे में मेरा यह कथन बेशक ठीक है कि "मैं अपने नाम सम्बन्ध में भूल नहीं कर सकता", और यह कहना गलत है कि "संभवत : मैं भूल कर रहा हूँ"। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जिसे मैं सुनिश्चित कहता हूँ उस पर अन्य व्यक्तियों द्वारा संशय करना निरर्थक है।

630. यह तो सामान्य तथ्य है कि अपनी मातृ-भाषा में हम कुछ वस्तुओं के नामों की भूल कर ही नहीं सकते।

631. "मैं इसके बारे में भूल कर ही नहीं सकता" यह एक प्रकार का कथन ही है।

632. सुनिश्चित एवं अनिश्चित स्मृति। यदि साधारणत : सुनिश्चित स्मृति अनिश्चित स्मृति से अधिक विश्वसनीय न होती, यानी, यदि उसकी अनिश्चित स्मृति की तरह ही जाँच द्वारा बहुधा पुष्टि न होती, तो भाषाभिव्यक्ति में निश्चितता और अनिश्चितता की वर्तमान भूमिका नहीं रहती।

633. "मैं भूल कर ही नहीं सकता" — किन्तु ऐसा कहने पर भी जब मैं भूल करता हूँ तो क्या होता है? क्या ऐसा संभव नहीं है? किन्तु क्या इससे "मैं.... कर ही नहीं सकता", अभिव्यक्ति निरर्थक हो जाती है? अथवा क्या इसके बजाए यह कहना उचित होगा कि "मेरे द्वारा भूल करने की संभावना बहुत कम है"? नहीं; क्योंकि उसका कोई और ही अभिप्राय है?

634. "मैं भूल कर भूल कर ही नहीं सकता; और अधिक से अधिक बुरा यही होगा कि मैं अपनी प्रतिज्ञप्ति को प्रतिमान में बदल दूँगा।"

635. "इस बारे में मैं भूल कर ही नहीं सकता; आज मैं उसके साथ था।"

636. "मैं भूल कर ही नहीं सकता; किन्तु फिर भी अपनी प्रतिज्ञप्ति के विरुद्ध प्रतीत होने वाली किसी भी बात के बावजूद मैं उससे चिपका रहूँगा।"

637. "मैं भूल कर ही नहीं सकता" अभिव्यक्ति खेल में मेरे कथन को उसका स्थान दिखाती है। किन्तु मूलतः यह खेल के बजाय मुझसे सम्बन्धित है।

कथन-विषयक मेरी भूल से भाषा-खेल की उपयोगिता कम नहीं हो जाती।

25.4.

638. "मैं भूल कर ही नहीं सकता" यह एक ऐसा साधारण वाक्य है जो किसी कथन की निश्चितता बतलाने में सहायक होता है। और अपने दैनंदिन प्रयोग में ही इसका औचित्य है।

<u>639.</u> किन्तु क्या यह विचित्र नहीं है कि मैं इसके बारे में और इसीलिए इसके द्वारा समर्थित प्रतिज्ञप्ति के प्रयोग में भी — जैसा कि सभी मानते हैं — भूल कर सकता हूँ?

<u>640.</u> या फिर क्या मैं यह कहूँ : यह वाक्य एक प्रकार की चूक को नकार देता है।

<u>641.</u> "उसने आज ही मुझे इस बारे में बताया है — मैं इस बारे में भूल कर ही नहीं सकता।" — किन्तु इसके गलत निकलने पर क्या होगा?! — किसी बात के 'गलत निकलने' के ढंगों में क्या हमें भेद नहीं करना होगा? — अपने कथन की भूल को कैसे प्रदर्शित किया जा सकता है? यहाँ प्रमाण के सामने प्रमाण है, और यह निर्णय लेना होगा कि कौनसा प्रमाण रहे और कौनसा न रहे।

<u>642.</u> पर मान लो कोई झिझकते हुए कहे : क्या होगा यदि मैं अचानक जागूँ और कहूँ कि "जरा रुकिए, मैं कल्पना कर रहा था कि मुझे **लु. वि.** कहते हैं!" — बेशक, किन्तु कौन जानता है कि मैं पुनः न जागूँ और इसे विचित्र कल्पना न कहूँ, इत्यादि, इत्यादि?

<u>643.</u> हम ऐसी स्थिति की कल्पना तो कर ही सकते हैं — और ऐसी स्थितियाँ होती भी हैं — जिनमें 'जागने' के बाद कोई संदेह ही नहीं रहे कि कौनसी कल्पना थी और कौनसी वास्तविकता। किन्तु, ऐसी स्थिति या उसकी संभावना से "मैं भूल कर ही नहीं सकता" प्रतिज्ञप्ति की साख कम नहीं हो जाती।

<u>644.</u> अन्यथा, क्या सभी कथनों की साख इस प्रकार कम नहीं हो जाएगी?

<u>645.</u> मैं भूल कर ही नहीं सकता, — किन्तु, सही या गलत, क्या यह नहीं हो सकता कि कभी मैं सोचूँ कि मैं निर्णय करने के योग्य ही नहीं था।

<u>646.</u> यदि सर्वदा, या बहुधा ऐसा हो तो भाषा-खेल का स्वरूप ही पूरी तरह बदल जाएगा।

647. भाषा-खेल में स्वीकृत भूल और अपवाद स्वरूप होने वाली पूर्ण-अनियमितता में भेद होता है।

648. किसी अन्य व्यक्ति को मैं भरोसा दिला सकता हूँ कि मैं 'भूल कर ही नहीं सकता'।

मैं किसी को कहता हूँ कि "अमुक व्यक्ति सुबह मेरे साथ था और उसने मुझे अमुक बात बताई"। यदि यह चकित करने वाली बात हो तो वह मुझसे पूछ सकता है : "आप इस बारे में भूल कर ही नही सकते?" उसका आशय हो सकता है : "क्या यह वास्तव में आज सुबह ही घटित हुआ?" या फिर : "क्या आपको उसे ठीक-ठीक समझने का भरोसा है?" समय और कथन सम्बन्धी अपनी निर्दोषता को प्रदर्शित करने के लिए मुझे जिन बातों का विवरण देना होगा वे तो सर्वविदित है। उन सब विवरणों से यह तो पता नहीं चलता कि मैंने पूरे प्रकरण को सपने में देखा हैं, या फिर उसकी केवल कल्पना की है। न ही उनसे यह पता चलता है कि आद्योपांत मेरी ज़बान फिसलती रही है। (ऐसा भी होता है।)

649. (एक बार मैंने किसी को — अंग्रेजी भाषा में — कहा कि यह टहनी एल्म (चिराबेल का अंग्रेजी नाम) की टहनी की आकृति जैसी है, पर मेरे साथी ने मेरी बात से असहमति जताई। थोड़ी देर बाद ऐसे स्थान पर पहुँचने पर जहाँ ऐश (अंगू का अंग्रेजी नाम) के पेड़ थे मैंने कहा "देखो, ये वैसी टहनियाँ हैं जिनके बारे में मैं बात कर रहा था"। यह सुनकर उसने कहा "किन्तु ये तो ऐश के पेड़ हैं" — फिर मैंने कहा "एल्म शब्द से मेरा तात्पर्य ऐश से था"।)

650. निश्चित रूप से इसका अर्थ है : कई (अनेक) स्थितियों में भूल की संभावना को दूर किया जा सकता है। — हिसाब में भूल ऐसे ही सुधारी जाती है। किसी हिसाब की बार-बार जाँच करने के बाद हम यह नहीं कह सकते कि "फिलहाल यह अत्यन्त सम्भावित परिणाम ही है क्योंकि अभी भी कोई चूक हो सकती है"। किसी चूक के मिल जाने पर भी — हम ऐसा क्यों न समझें कि यह किसी नई चूक का परिणाम है।

651. 12 × 12 के 144 होने के बारे में मैं भूल कर ही नहीं सकता। पर गणितीय निश्चितता की तुलना हम आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की सापेक्षित निश्चितता से तो नहीं कर सकते। क्योंकि हमारी गणितीय प्रतिज्ञप्तियाँ भी हमारे जीवन से जुड़े क्रिया-कलापों का परिणाम हैं और उनमें भी वैसी ही भूल-चूक और भ्रान्ति की सम्भावना है।

652. क्या अब मैं यह अनुमान कर सकता हूँ कि मनुष्य न तो कभी अपनी वर्तमान गणितीय प्रतिज्ञप्तियों का परित्याग करेंगे, और न ही यह कहेंगे कि आखिकार उन्हें पता चल ही गया कि स्थिति क्या है? फिर भी, क्या हमारे संदेह का कोई औचित्य है?

653. यदि 12 × 12 = 144 यह प्रतिज्ञप्ति संदेह से मुक्त हो तो, अ-गणितीय प्रतिज्ञप्तियाँ भी संदेह मुक्त होनी चाहिएं।

26.4.51

654. किन्तु इसके विरोध में अनेक आपत्तियाँ हैं। — प्रथमतः “12 × 12 इत्यादि” प्रतिज्ञप्ति एक गणितीय प्रतिज्ञप्ति है और इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐसी स्थिति में केवल गणितीय प्रतिज्ञप्तियाँ ही होती हैं। और यदि यह अनुमान उचित न हो तो कोई ऐसी प्रतिज्ञप्ति होनी चाहिए जो इस प्रतिज्ञप्ति के समान सुनि-श्चित हो और जो इस परिकलन-पद्धति से संबंधित होने के बावजूद गणितीय न हो। मैं किसी ऐसी प्रतिज्ञप्ति के बारे में सोच रहा हूँ : “जब परिकलन जानने वाले लोग ‘12 × 12’ को गुणा करते हैं, तो अधिकांश लोगों का गुणनफल ‘144’ होता है।” इस प्रतिज्ञप्ति का कोई भी विरोध नहीं करेगा और यह गणितीय है भी नहीं है। किन्तु क्या यह गणितीय प्रतिज्ञप्ति के समान सुनिश्चित है?

655. गणितीय प्रतिज्ञप्ति पर तो, मानो आधिकारिक रूप से, अकाट्यता की मुहर लगा दी गई है। यानी : “अन्य बातों के बारे में विवाद कीजिए; यह तो ध्रुव है — यह तो ऐसी धुरी है जिसके चारों ओर आपके विवाद घूमते हैं।”

<u>656.</u> पर मैं **लु. वि.** कहलाता हूँ, इस प्रतिज्ञप्ति के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। न ही यह बात इस प्रतिज्ञप्ति के बारे में कही जा सकती है कि अमुक लोगों ने अमुक समस्या का ठीक-ठीक समाधान कर लिया है।

<u>657.</u> गणित की प्रतिज्ञप्तियों के बारे में कहा जा सकता है कि वे जड़ हो चुकी हैं। — "मैं.... कहलाता हूँ", के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु मेरे जैसे

कई अन्य लोग भी अनेकानेक प्रमाणों के आधार पर इसे अकाट्य मानते हैं। और वे विचारहीनता के कारण ऐसा नहीं मानते, क्योंकि, किसी प्रमाण का अत्यन्त प्रभावी बल इस तथ्य में निहित है कि उससे प्रतिकूल प्रमाण की स्थिति में भी हमें उसे छोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः, अब हमें गणितीय प्रतिज्ञप्तियों को अकाट्य बनाने वाले आधार जैसा आधार मिल गया है।

<u>658.</u> "किन्तु कहीं अभी आप भ्रमित तो नहीं हैं और थोड़ी देर बाद आपको संभवतः इसका पता चले?" — पहाड़ों की प्रतिज्ञप्ति पर सवालिया चिह्न अंकित करने के लिए भी इस प्रश्न को उठाया जा सकता है?

<u>659.</u> "मैंने अभी-अभी भोजन किया है इस तथ्य के बारे में मैं भूल नहीं कर सकता।"

क्योंकि, जब मैं किसी को "मैंने अभी-अभी भोजन किया है" कहता हूँ तो वह सोच सकता है कि या तो मैं झूठ बोल रहा हूँ या फिर मैं पागल हो गया हूँ, किन्तु वह यह नहीं सोच सकता कि मैं भूल कर रहा हूँ। यहाँ मेरे भूल करने की कल्पना करना निरर्थक है।

किन्तु यह सत्य नहीं है। उदाहरणार्थ, यह सम्भव है कि खाना खाने के तुरन्त बाद अनजाने ही एक घंटे के लिए मैं सो गया होऊँ और अब सोचता हूँ कि मैंने अभी-अभी खाना खाया है।

किन्तु फिर भी यहाँ मैं भूल के विभिन्न प्रकारों में भेद करता हूँ।

660. मैं पूछ सकता हूँ : “अपना नाम लु. वि. होने के बारे में मैं कैसे भूल कर सकता हूँ?” और मैं कह सकता हूँ : मैं नहीं जानता कि यह कैसे संभव होगा।

661. मैं कभी भी चाँद पर नहीं गया, अपनी इस मान्यता के बारे में मैं कैसे भूल कर सकता हूँ?

662. “मैं कभी भी चाँद पर नहीं गया — किन्तु मैं भूल कर सकता हूँ” मेरा यह कहना तो बेवकूफी ही होगी।

क्योंकि सपने में, अज्ञात साधनों द्वारा, वहाँ ले जाए जाने की कल्पना भी मुझे यहाँ भूल के उल्लेख का अधिकार नहीं देती। ऐसा करने पर मैं खेल को गलत ढंग से खेलता हूँ।

663. भूल करने पर भी मुझे यह कहने का अधिकार है कि “मैं इस बारे में भूल कर ही नहीं सकता”।

664. इन दोनों स्थितियों में भेद है : गणित में सही और गलत की पहचान कोई पाठशाला में सीखता है या फिर मैं स्वयं कहता हूँ कि प्रतिज्ञप्ति के बारे में मैं कोई भूल कर ही नहीं सकता।

665. उत्तरकथन में मैं पूर्वनिर्धारित नियम में कोई विशेष बात जोड़ता हूँ।

666. किन्तु शरीर-रचना (या उसके बड़े भाग) के बारे में क्या कहें? क्या उसके वर्णन को भी संशय से मुक्ति मिली हुई है?

667. स्वप्न में चाँद पर ले जाए जाने का विश्वास रखने वाले लोगों के देश में पहुँचने पर भी, मैं उन्हें यह नहीं कह सकता : “मैं कभी भी चाँद पर नहीं गया हूँ। — बेशक मैं भूल कर सकता हूँ।” और उनके यह प्रश्न पूछने पर कि “कहीं आप भूल तो नहीं कर रहे?” मुझे उत्तर देना होगा : नहीं।

668. किसी को कोई सूचना देने के साथ-साथ मेरे इस कथन कि मैं उसके बारे में कोई भूल कर ही नहीं सकता के क्या व्यावहारिक परिणाम होंगे?

(बल्कि मैं यह भी जोड़ सकता हूँ : “जैसे मैं अपना नाम **लु. वि.** होने के बारे में भूल नहीं कर सकता, वैसे ही इसके बारे में भी भूल नहीं कर सकता।”)

फिर भी कोई अन्य व्यक्ति मेरे कथन पर संशय प्रकट कर सकता है। किन्तु, मुझ ’पर भरोसा करने पर वह न केवल मेरी सूचना को स्वीकार करता है अपितु वह मेरी धारणा से मेरे आगामी व्यवहार का भी निश्चित अनुमान लगा लेता है।

669. “मैं भूल कर ही नहीं सकता” यह वाक्य व्यवहार में प्रयुक्त होता है। किन्तु हम पूछ सकते हैं कि क्या हमें इसे इसके संकीर्ण अर्थ में समझना है या फिर यह एक प्रकार की अतिशयोक्ति है जिसका प्रयोग संभवतः किसी को मनाने के लिए किया जाता है।

27.4.

670. हम मानवीय अन्वेषण के मूल सिद्धान्तों का उल्लेख कर सकते हैं।

671. मैं यहाँ से संसार के उस भाग में उड़ कर जाता हूँ जहाँ के लोगों ने उड़ने की संभावना के बारे में या तो बहुत कम या फिर कुछ भी न सुना हो। मैं उन्हें बताता हूँ कि मैं अभी-अभी.... से उड़ कर आया हूँ। वे मुझसे पूछते हैं कि कहीं मैं भूल तो नहीं कर रहा। — स्पष्टतः उड़ने के बारे में उनके दोषपूर्ण विचार हैं। (संदूक में बन्द होकर यात्रा करने पर अपनी यात्रा के साधन के बारे में मुझसे भूल होने की संभावना है।) मेरे मात्र यह कहने से कि मैं गलती नहीं कर सकता संभवत : वे सन्तुष्ट नहीं होंगे; किन्तु वास्तविक विधि के विवरण से वे सन्तुष्ट हो जाएंगे। फिर वे भूल करने की संभावना की बात ही नहीं करेंगे। किन्तु इतना होने पर — मुझ पर भरोसा करने पर भी — वे सोच सकते हैं कि मैं स्वप्नावस्था में था, या जादू के वशीभूत मैं इसकी कल्पना कर रहा हूँ।

672. ‘जब मैं इस साक्ष्य पर भरोसा नहीं करता तो मैं किसी अन्य साक्ष्य पर भरोसा क्यों करूँ?’

673. क्या मेरे द्वारा कतई गलती न कर सकने, और न के बराबर गलती करने की संभावना वाली स्थितियों में भेद करना कठिन नहीं है? स्थिति के प्रकार के बारे में क्या हम सदा सुस्पष्ट होते हैं? मेरे विचार में तो नहीं।

674. बेशक, ऐसी स्थितियाँ होती हैं जिनमें मेरा यह कहना उचित होता है कि मैं भूल कर ही नहीं सकता, और मूअर उन स्थितियों के कुछ उदाहरण देते हैं।

मैं ऐसी अनेक स्थितियों का वर्णन कर सकता हूँ किन्तु उनके किसी सामान्य गुण के बारे में नहीं बता सकता। (**न. न.** यह भूल नहीं कर सकता कि उसने कुछ ही दिन पहले अमेरिका से इंगलैंड के लिए उड़ान भरी थी। पागल होने की स्थिति में ही वह किसी अन्य बात की संभावना को स्वीकार करेगा।)

675. यदि कोई यह सोचे कि उसने कुछ ही दिन पहले अमेरिका से इंगलैंड के लिए उड़ान भरी थी, तो, मेरा विश्वास है कि वह भूल कर ही नहीं सकता।

यही उस व्यक्ति की स्थिति है, जो यह कहता है कि वह इस समय मेज-कुर्सी पर बैठा लिख रहा है।

676. "किन्तु चाहे ऐसी स्थितियों में मैं गलती नहीं भी कर सकूँ तो भी क्या मेरा नशे में होना संभव नहीं है?" यदि मैं नशे में हूँ और यदि नशे ने मेरी चेतना हर ली है, तो वस्तुत : मैं अभी न तो वार्तालाप कर रहा हूँ और न ही चिन्तन कर रहा हूँ। मैं इस क्षण स्वप्नाविष्ट होने की दुरूह कल्पना भी नहीं कर सकता। स्वप्न के समय "मुझे सपना आ रहा है" ऐसा कहने वाले व्यक्ति की बात सुनाई देने पर भी वह उतनी ही ठीक होती है जितनी वास्तविक वर्षा की स्थिति में स्वप्न में उसका यह कथन कि "वर्षा हो रही है", भले ही उसका स्वप्न, वर्षा के कोलाहल से वस्तुतः सम्बन्धित ही क्यों न हो।

---

1. देखें, जी. ई. मूअर "प्रूफ़ ऑव एन एक्सटर्नल वर्ल्ड", प्रोसीडिंग्स ऑव द ब्रिटिश अकेडमी, खडं xxv, 1930; और "ए डिफेन्स ऑव कॉमन सेन्स", कान्टेम्परेरी ब्रिटिश फ़िलोसॉफ़ी, सेकेंड सिरीज़, संपादक जे. एच. मयूरहैड, 1925। ये दोनों शोध-पत्र मूअर की पुस्तक फ़िलोसॉफ़िकल पेपर्स, लंदन : जॉर्ज एलन एन्ड अन्विन, 1959 में भी मिलते हैं।↩

2. यह अंश मूल पाण्डुलिपि में हटाया गया है। (संपादक)↩

3. फ़िलोसॉफ़िकल इन्वेस्टिगेशंस I §2. (संपादक)↩

4. देखें गेटे, फ़ाउस्ट I↩

5. गुंडगेजेत्ज़े डेर अरिथमेटिक I xvii, सं.↩

6. फ़िलोसॉफ़िकल इन्वेस्टिगेशंस §2. सं.↩

7. यह वाक्य बाद में जोड़ा गया। (सं.)↩

8. हाशिये में टिप्पणी। क्या यह भी संभव नहीं है कि हम ऐसा मानते हों कि हम अपनी पूर्व त्रुटियों को पहचानकर बाद में यह निष्कर्ष निकालते हों कि हमारी पहली सोच ही उचित थी? इत्यादि।↩